मासिक समाचारपत्र ● पूर्णांक 122 ● वर्ष 13, अंक 10 ● दिसम्बर 2023 ● दस रुपये ● 16 पृष्ठ

मज़दूर बिगुल

सिलक्यारा सुरंग हादसा : मुनाफे की अँधी हवस की सुरंग 4

हम सब हैं गाज़ा! फ़िलिस्तीन में जारी इज़रायली बर्बरता 5

क्रान्तिकारी मज़दूर शिक्षणमाला : मज़दूरी 10

चुनावों के रास्ते फ़ासीवाद की निर्णायक पराजय सम्भव नहीं

क्रान्तिकारी सर्वहारा वर्ग ही दे सकता है जनविरोधी फ़ासीवादी सत्ता को निर्णायक शिकस्त

फ़ासीवादी मोदी सरकार के ख़िलाफ़ क्रान्तिकारी संघर्ष का पहला क़दम है बेरोज़गारी, महँगाई, भ्रष्टाचार और साम्प्रदायिकता के ख़िलाफ़ जनता का जुझारू क्रान्तिकारी जनान्दोलन खड़ा करना

पाँच राज्यों में विधानसभा चुनावों के नतीजे दिसम्बर के पहले सप्ताह में आ गये। राजस्थान में भाजपा की जीत पर ज़्यादा ताज्जुब नहीं हुआ। राजस्थान में सत्तारूढ़ दलों का सत्ता से जाने का इतिहास रहा है। लेकिन मध्यप्रदेश और छत्तीसगढ़ में अधिकांश ओपिनियन व एक्ज़िट पोल में कांग्रेस को जीतता हुआ दिखाया गया था। ज़्यादातर चुनाव विश्लेषक और पत्रकार जो इन प्रदेशों का दौरा कर रहे थे, वे बता रहे थे कि माहौल गाँवों और शहरों दोनों ही जगहों पर स्पष्ट तौर पर कांग्रेस के पक्ष में है। लेकिन इन दोनों ही प्रदेशों में सभी को अचम्भित करने वाले नतीजे आये और भाजपा को बहुमत हासिल हुआ।

तेलंगाना में भाजपा पिछले कुछ माह से मुकाबले में रह ही नहीं गयी थी। वहाँ कांग्रेस ने बेहद तेज़ी से अपनी हवा बनायी थी। मुकाबला बी.आर.एस. और कांग्रेस के बीच था, जिसमें कांग्रेस ने बाज़ी मार ली। भाजपा को दक्षिण के राज्यों की उतनी फ़िक्र भी नहीं है। वजह यह कि 2014 और 2019 में भी कर्नाटक को छोड़ दें तो दक्षिण भारत से भाजपा को ज़्यादा कुछ हासिल नहीं हुआ था। लेकिन राजस्थान, मध्यप्रदेश, हिमाचल प्रदेश, हरियाणा, उत्तर प्रदेश, छत्तीसगढ़ और गुजरात में भाजपा

सम्पादकीय अग्रलेख

ने अधिकांश सीटें जीतीं थीं। कुछ राज्यों, जैसे कि राजस्थान, गुजरात, मध्य प्रदेश में तो विपक्षी दलों को या तो एक भी सीट नहीं मिली थी, या 1-2 सीटें मिलीं थीं। भाजपा को पता है कि इन राज्यों में वह 2019 में पहले ही शीर्ष पर थी और अब वहाँ से ऊपर नहीं जाया जा सकता है। दक्षिण भारत में कोई नया फ़ायदा भाजपा को 2024 में होता नहीं दिख रहा है। इसलिए 2024 में भाजपा की विजय का दारोमदार इसी बात पर है कि उत्तर व पश्चिमी भारत के उपरोक्त राज्यों में वह शीर्ष से नीचे न गिरे। इसलिए तेलंगाना के नतीजों को लेकर भाजपा का नेतृत्व उतना परेशान नहीं था।

लेकिन मध्यप्रदेश और छत्तीसगढ़ और साथ ही राजस्थान को लेकर वह चिन्तित था। वहाँ पर विधानसभा में हारने का अर्थ था 2024 में उत्तर भारत में उसकी अजेयता के मिथक का टूटना और उसकी लहर के नीचे जाने की छवि का बनना। इसलिए इन राज्यों में मोदी-शाह नीत भाजपा ने सारी ताक़त झोंक दी थी। तमाम लोकलुभावन कल्याणकारी योजनाओं से लेकर केन्द्र सरकार द्वारा पैकेजों की घोषणाएँ जारी थीं; केन्द्रीय नेताओं-मन्त्रियों के दौरे जारी थे; संघ परिवार की पूरी मशीनरी अपनी पूरी ताक़त से भाजपा के पक्ष में चुनाव प्रचार में जुटी हुई थी; कारपोरेट घरानों और समूचे पूँजीपति वर्ग की ओर से अकूत धन-दौलत उड़ायी जा रही थी ताकि भाजपा जीते; कांग्रेस ने मध्यप्रदेश में पैसे बाँटे जाने, पोस्टल बैलट को वक़्त से पहले खोले जाने, इत्यादि की चुनाव आयोग में बार-बार शिक़ायत की, लेकिन चुनाव आयोग दूसरी ओर मुँह करके बैठा रहा। लेकिन इन सबके बावजूद भाजपा जीत को लेकर आश्वस्त नहीं हो पा रही थी।

लेकिन फिर भी अन्ततः भाजपा को मध्य प्रदेश में और छत्तीसगढ़ में

(पेज 7 पर जारी)

भगतसिंह जन अधिकार यात्रा : फ़ासीवाद के ख़िलाफ़ बुनियादी सवालों पर मेहनतकश जन समुदाय को जगाने और संगठित करने की मुहिम

देश का राजनीतिक-सामाजिक घटनाक्रम हर दिन इस बात की तस्दीक कर रहा है कि फ़ासीवाद के विरुद्ध ज़मीनी स्तर से एक व्यापक जनान्दोलन खड़ा करके ही उसे पीछे धकेला जा सकता है और फिर निर्णायक शिकस्त दी जा सकती है।

भगतसिंह जनअधिकार यात्रा ऐसे ही जनान्दोलन की तैयारी की मुहिम है। इस यात्रा का लक्ष्य है आम जनता के मूलभूत अधिकारों के लिए संघर्ष को आगे बढ़ाना और इसके लिए जनता को जागृत, गोलबन्द और संगठित करना। महँगाई, बेरोज़गारी और भ्रष्टाचार ने जनता के जीवन को नर्क बना रखा है। पूरे देश में मेहनतकश और निम्न मध्यवर्गीय आबादी जीवन की मूलभूत ज़रूरतें भी पूरी नहीं कर पा रही है। बढ़ती बदहाली की आँच मध्य वर्ग के थोड़े खाते-पीते तबकों को भी महसूस हो रही है। लेकिन इन असली मुद्दों से ध्यान हटाने के लिए साम्प्रदायिक नफ़रत के ज़हर और तमाम झूठे मुद्दों और जुमलों को उछाला जा रहा है और थैलीशाहों के मीडिया व संघी प्रचारतंत्र की पूरी ताक़त इसके लिए झोंक दी गयी है।

ऐसे में बेहद ज़रूरी है कि हम सीधे आम लोगों के बीच जाकर इस झूठे प्रचार का भण्डाफोड़ करें और वास्तविक सवालों पर लोगों को एकजुट करें।

पिछले 10 दिसम्बर को कर्नाटक में बेंगलुरु से शुरू हुई भगतसिंह जन अधिकार यात्रा आन्ध्र प्रदेश, तेलंगाना, महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश, उत्तराखण्ड, बिहार, राजस्थान, हरियाणा, चण्डीगढ़ व पंजाब के 80 से अधिक ज़िलों से गुज़रते हुए 8500 किलोमीटर लम्बी दूरी तय करके 26 फरवरी को दिल्ली पहुँचेगी जहाँ 3 मार्च को इसका समापन होगा। इस दौरान सैकड़ों छोटी-बड़ी सभाएँ की जायेंगी, कन्नड़, तेलुगु, मराठी, पंजाबी, उर्दू और हिन्दी में लाखों की संख्या में पर्चे बाँटे जायेंगे, छह पुस्तिकाएँ वितरित की जायेंगी, पोस्टरिंग और वॉल राइटिंग की जायेगी और इस मुहिम को आगे बढ़ाने के लिए स्थानीय लोगों व कार्यकर्ताओं के साथ दर्जनों बैठकें की जायेंगी।

भगतसिंह जन अधिकार यात्रा का यह दूसरा चरण है। पहले चरण में मार्च और अप्रैल में 8 राज्यों में अलग-अलग यात्राएँ निकाली गयी थीं।

बिगुल मज़दूर दस्ता भी इस यात्रा का हिस्सा है। हम अपने सभी पाठकों से इस यात्रा से जुड़ने और इसके लिए हर तरह का सहयोग करने की अपील कर रहे हैं। इस सम्बन्ध में सभी ब्यौरे आप इस अंक के पेज 16 व 15 पर देख सकते हैं।

बजा बिगुल मेहनतकश जाग, चिंगारी से लगेगी आग!

आपस की बात

हमें अपनी मज़बूत यूनियन बनानी होगी

मेरा नाम अंजुम है और मैं गुजरात के वडोदरा में एक फैक्टरी में काम करने वाला मज़दूर हूँ। जिस फैक्टरी में मैं काम करता हूँ वहाँ करीब 60 आदमी काम करते हैं जिनमें 15-16 औरतें हैं। यहाँ पास में ही दो और फैक्ट्रियाँ भी हैं और तीनों फैक्ट्रियों में कुल मिलाकर लगभग 350 मजदूर काम करते हैं जिनमें लगभग 150 महिलाएं हैं। यहाँ पोलिशिंग का काम होता है काफी ख़तरनाक है। आए दिन फैक्ट्रियों में दुर्घटना होती रहती है। दुर्घटना होने पर मालिक थोड़ी-बहुत दवा-दारू करवा देता है लेकिन मुआवजा कभी नहीं दिया जाता। दुर्घटना के बाद मालिक मजदूरों को काम पर भी नहीं रखता है।

काम करने के कोई घण्टे तय नहीं हैं और रोज 12-13 घण्टे से कम काम नहीं होता है। जिस दिन लोडिंग-अनलोडिंग का काम रहता है उस दिन तो 16 घंटे तक काम करना पड़ता है। हफ्ते में 2-3 बार तो लोडिंग-अनलोडिंग भी करनी ही पड़ती है। महँगाई को देखते हुए हमें मजदूरी बहुत ही कम दी जाती है। बिना छुट्टी लिए पूरा महीना हाड़तोड़ काम करके भी कुछ बचता नहीं है। हम चाह कर भी अपने बच्चों को अच्छे स्कूलों में नहीं भेज सकते। श्रम-कानूनों के बारे में किसी भी मज़दूर को नहीं पता है। यूनियन तो गुजरात में है ही नहीं। बहुत से मज़दूरों को फैक्टरी के अन्दर ही रहना पड़ता है क्योंकि किराया बहुत ज़्यादा है। ऐसे मजदूरों का तो और भी ज़्यादा शोषण होता है। उन्हें रोज़ ही काम करना पड़ता है।

मैंने कई सारे शहरों में मैंने काम किया है लेकिन सभी जगह मज़दूरों की हालत एक सी ही है। मेरे खयाल से हम सभी मजदूरों को एकजुट हो जाना चाहिए और अपने अधिकारों के लिए लड़ना चाहिए। हमें अपनी मज़बूत यूनियन बनानी होगी और तभी हम मालिकों से लड़ सकते हैं।

- मोहम्मद मेहताब, मुंबई

इस व्यवस्था को चोट दो!

यह व्यवस्था पूरी तरह लूट और अन्याय पर आधारित है। इस व्यवस्था में कोई मजदूर कितना भी हाथ पाँव मारेगा वह अपना विकास नहीं कर पायेगा; क्योंकि यह मालिकों की व्यवस्था है। मजदूर को अपने विकास के लिए अलग व्यवस्था बनाना होगा। इसे एक उदाहरण से आसानी से समझा जा सकता है। धान की छँटाई करने वाले हालर का सिस्टम अलग होता है और गेहूँ की पिसाई करने वाली चक्की का सिस्टम अलग होता है। अगर आप चाहेंगे कि धान की छँटाई हम गेहूँ की पिसाई करने वाली चक्की में करें तो यह कतई नहीं होगा; और अगर आप चाहेंगे कि गेहूँ की पिसाई हम धान की छँटाई करने वाले हालर में करें तो यह कतई नहीं होगा। इसलिए हमसफर साथियों! हम मजदूरों को अपने विकास के लिए अलग व्यवस्था बनानी होगी और वह व्यवस्था होगी 'मजदूर राज'। लेकिन यह अकेले सम्भव नहीं है। कहावत है – हाथी हाथ से ठेला नहीं जा सकता। हम सभी मजदूरों को मिलकर इस सड़ी-गली व्यवस्था पर एक साथ चोट करना होगा!

गीत

फाटल पैर बेवइया हो भैया
गर्मी के दुपहरिया में,
खून ई बनल पसीना भैया
गरमी की दुपहरिया में;
केतनों काम करीला
लेकिन मालिक के संतोष नहीं ,
अहंकार में डूबल हौवै,
वोकरे तनिकों होश नहीं;
मजूर कै संगी मजूर हौ,
येह दिल्ली नगरिया में ;
फाटल पैर बेवइया हो भैया....
केतनों जाँगर पेरा भैया
कम कइके बतावय ला,
आठ बजे तक काम से छोड़े
सगरो दिन दौड़ावे ला,
बाद में भैया चक्कर काटीं
आस में अपनी माजूरिया के;
फाटल पैर बेवइया हो भैया....

एक मज़दूर, करावल नगर, दिल्ली

प्रिय पाठको,

अगर आपको 'मज़दूर बिगुल' का प्रकाशन ज़रूरी लगता है और आप इसके अंक पाते रहना चाहते हैं तो हमारा अनुरोध है कि आप कृपया इसकी सदस्यता लें और अपने दोस्तों को भी दिलवाएँ। आप हमें मनीऑर्डर भेज सकते हैं या सीधे बैंक खाते में जमा करा सकते हैं। या फिर QR कोड स्कैन करके मोबाइल से भुगतान कर सकते हैं।

मनीऑर्डर के लिए पता :

मज़दूर बिगुल,
द्वारा जनचेतना,
डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020

बैंक खाते का विवरण : Mazdoor Bigul
खाता संख्या : 0762002109003787,
IFSC: PUNB0185400
पंजाब नेशनल बैंक, अलीगंज शाखा, लखनऊ

QR कोड व UPI

UPI: bigulakhbar@okicici

मज़दूर बिगुल के बारे में किसी भी सूचना के लिए आप हमसे इन माध्यमों से सम्पर्क कर सकते हैं :
फ़ोन : 0522-4108495, 8853476339 (व्हॉट्सऐप)
ईमेल : bigulakhbar@gmail.com
फ़ेसबुक : www.facebook.com/MazdoorBigul

"बुर्जुआ अख़बार पूँजी की विशाल राशियों के दम पर चलते हैं। मज़दूरों के अख़बार ख़ुद मज़दूरों द्वारा इकट्ठा किये गये पैसे से चलते हैं।" – **लेनिन**

'मज़दूर बिगुल' मज़दूरों का अपना अख़बार है।

यह आपकी नियमित आर्थिक मदद के बिना नहीं चल सकता।
बिगुल के लिए सहयोग भेजिए/जुटाइए।
सहयोग कूपन मँगाने के लिए मज़दूर बिगुल कार्यालय को लिखिए।

मज़दूर बिगुल के सभी पाठकों के सूचनार्थ

मज़दूर बिगुल के फ़ेसबुक पेज (facebook.com/mazdoorbigul) को किसी विदेशी हैकर ने हैक कर लिया है और उस पर कुछ फ़ालतू पोस्ट करना भी शुरू कर दिया है। फ़ेसबुक को सभी साक्ष्यों सहित कई बार लिखने के बावजूद उस पर कोई कार्रवाई नहीं की गयी है। अन्ततः हमने मज़दूर बिगुल का नया फ़ेसबुक पेज बनाया है - facebook.com/mazdoorbigul1 (अन्त में '1' जोड़ा गया है)। आपसे आग्रह है कि पुराने पेज से आने वाली पोस्ट पर ध्यान न दें और हमारे नये पेज को फ़ॉलो कर लें।

मज़दूर बिगुल की वेबसाइट www.mazdoorbigul.net

इस वेबसाइट पर दिसम्बर 2007 से अब तक बिगुल के सभी अंक क्रमवार, उससे पहले के कुछ अंकों की सामग्री तथा राहुल फ़ाउण्डेशन से प्रकाशित सभी बिगुल पुस्तिकाएँ उपलब्ध हैं। बिगुल के प्रवेशांक से लेकर नवम्बर 2007 तक के सभी अंक भी वेबसाइट पर क्रमशः उपलब्ध कराये जा रहे हैं। मज़दूर बिगुल का हर नया अंक प्रकाशित होते ही वेबसाइट पर निःशुल्क पढ़ा जा सकता है।

आप इस फ़ेसबुक पेज के ज़रिए भी 'मज़दूर बिगुल' से जुड़ सकते हैं :
www.facebook.com/MazdoorBigul1

'मज़दूर बिगुल' का स्वरूप, उद्देश्य और ज़िम्मेदारियाँ

1. 'मज़दूर बिगुल' व्यापक मेहनतकश आबादी के बीच क्रान्तिकारी राजनीतिक शिक्षक और प्रचारक का काम करेगा। यह मज़दूरों के बीच क्रान्तिकारी वैज्ञानिक विचारधारा का प्रचार करेगा और सच्ची सर्वहारा संस्कृति का प्रचार करेगा। यह दुनिया की क्रान्तियों के इतिहास और शिक्षाओं से, अपने देश के वर्ग संघर्षों और मज़दूर आन्दोलन के इतिहास और सबक़ से मज़दूर वर्ग को परिचित करायेगा तथा तमाम पूँजीवादी अफ़वाहों-कुप्रचारों का भण्डाफोड़ करेगा।

2. 'मज़दूर बिगुल' भारतीय क्रान्ति के स्वरूप, रास्ते और समस्याओं के बारे में क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों के बीच जारी बहसों को नियमित रूप से छापेगा और 'बिगुल' देश और दुनिया की राजनीतिक घटनाओं और आर्थिक स्थितियों के सही विश्लेषण से मज़दूर वर्ग को शिक्षित करने का काम करेगा।

3. 'मज़दूर बिगुल' स्वयं ऐसी बहसें लगातार चलायेगा ताकि मज़दूरों की राजनीतिक शिक्षा हो तथा वे सही लाइन की सोच-समझ से लैस होकर क्रान्तिकारी पार्टी के बनने की प्रक्रिया में शामिल हो सकें और व्यवहार में सही लाइन के सत्यापन का आधार तैयार हो।

4. 'मज़दूर बिगुल' मज़दूर वर्ग के बीच राजनीतिक प्रचार और शिक्षा की कार्रवाई चलाते हुए सर्वहारा क्रान्ति के ऐतिहासिक मिशन से उसे परिचित करायेगा, उसे आर्थिक संघर्षों के साथ ही राजनीतिक अधिकारों के लिए भी लड़ना सिखायेगा, दुअन्नी-चवन्नीवादी भूजाछोर "कम्युनिस्टों" और पूँजीवादी पार्टियों के दुमछल्ले या व्यक्तिवादी-अराजकतावादी ट्रेडयूनियनों से आगाह करते हुए उसे हर तरह के अर्थवाद और सुधारवाद से लड़ना सिखायेगा तथा उसे सच्ची क्रान्तिकारी चेतना से लैस करेगा। यह सर्वहारा की क़तारों से क्रान्तिकारी भर्ती के काम में सहयोगी बनेगा।

5. 'मज़दूर बिगुल' मज़दूर वर्ग के क्रान्तिकारी शिक्षक, प्रचारक और आह्वानकर्ता के अतिरिक्त क्रान्तिकारी संगठनकर्ता और आन्दोलनकर्ता की भी भूमिका निभायेगा।

मज़दूर बिगुल

सम्पादकीय कार्यालय	: 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006 फ़ोन: 8853476339
दिल्ली सम्पर्क	: बी-100, मुकुन्द विहार, करावलनगर, दिल्ली-90, फ़ोन: 9289498250
ईमेल	: bigulakhbar@gmail.com
मूल्य	: एक प्रति – 10/- रुपये
	वार्षिक – 125/- रुपये (डाक ख़र्च सहित)
	आजीवन सदस्यता – 3000/- रुपये

गुड़गाँव से लेकर धारूहेड़ा तक की औद्योगिक पट्टी के मज़दूरों के जीवन और संघर्ष के हालात

● शाम मूर्ति

गुड़गाँव-मानेसर-धारूहेड़ा औद्योगिक पट्टी दरअसल गुड़गाँव से लेकर राजस्थान के जयपुर तक फैली औद्योगिक पट्टी का एक हिस्सा है। देश के विभिन्न औद्योगिक क्षेत्रों की तरह यह भी कभी "शान्त" नहीं रही है। जगह-जगह मज़दूरों का असन्तोष समय-समय पर फूटता ही रहा है। गुड़गाँव के मज़दूरों, "कर्मचारियों" से लेकर "स्कीम वर्कर्स" तक अपने-अपने मुद्दों को लेकर संघर्षरत रहते हैं। हम पहले भी इन संघर्षों के बारे में 'मज़दूर बिगुल' के पाठकों को अवगत कराते रहे हैं और आगे भी कराते रहेंगे। इस बार हम ऑटो सेक्टर में संघर्ष के मुद्दों और यहाँ की आम स्थिति पर एक संक्षिप्त चर्चा करेंगे।

यहाँ पर ठेका मज़दूरों का वेतन बढ़ोत्तरी, कार्यस्थलों पर असुरक्षा से लेकर स्थायीकरण की माँगों आदि को लेकर कम्पनी प्रबन्धन व मालिकान से आये-दिन आमना-सामना होता ही रहता है। वहीं स्थायी मज़दूर आँशिक/पूर्ण तालाबन्दी, जबरन वी.आर.एस. (स्वैच्छिक सेवानिवृति) की वजह से छँटनी, अपने समझौता पत्रों व यूनियन अधिकार पर हमले को लेकर भी अक्सर सड़कों पर आ जाते हैं। लेकिन समझौतापरस्त केन्द्रीय ट्रेड यूनियनों व चुनावी दलों के नेतृत्व के असर के कारण वे मुख्यतः अपनी माँगों के लिए श्रम विभाग से लेकर अदालतों के चक्कर लगाने तक सीमित रहते हैं और उनका आन्दोलन अमूमन इन सीमाओं का अतिक्रमण कर जुझारू संघर्ष तक जा ही नहीं पाता है।

गुड़गाँव-मानेसर में चल रहे बेलसोनिका मज़दूरों का संघर्ष

बेलसोनिका के स्थायी मज़दूर पिछले 55 दिनों से (5 दिसम्बर 2023 को रिपोर्ट लिखने तक) छँटनी व यूनियन पंजीकरण के रद्द करने ख़िलाफ़ प्रबन्धन व शासन-प्रशासन के ख़िलाफ़ गुड़गाँव के लघु सचिवालय में पक्का धरना लगाये हुए हैं। कम्पनी प्रबन्धन पिछले क़रीब दो साल से कम्पनी में स्थायी मज़दूरों की छँटनी करके उनकी जगह सस्ते व अस्थायी मज़दूरों को लाने के मंसूबे पर आगे बढ़ रहा है। फ़र्ज़ी दस्तावेज़ों के नाम पर दशकों पुराने मज़दूरों को काम से निकाला जा रहा है। प्रबन्धन मज़दूरों को डराने-धमकाने और दबाने के लिए विभिन्न तरीकों से प्रपंच रच रहा है और उसके रास्ते में बाधा बन रही संघर्षशील यूनियन को नाकाम करने में लगा हुआ है। अब तक कम्पनी प्रबन्धन हरियाणा के श्रम विभाग से साँठगाँठ करके यूनियन पदाधिकारियों व सक्रिय साथियों के निलम्बन व बर्ख़ास्तगी से लेकर यूनियन के पंजीकरण को रद्द करने की कार्रवाई में कामयाब हो चुका है। कम्पनी में जुझारू यूनियन के समान्तर मज़दूरों में फूट डालकर जेबी यूनियन खड़ी करने का षड्यन्त्र भी कम्पनी का प्रबन्धन रच रहा है।

कम्पनी में फ़िलहाल उत्पादन जारी है। लेकिन यूनियन के बर्ख़ास्त मज़दूर पक्का धरना लगाकर डटे हुए हैं। प्रबन्धन षडयन्त्रकारी तरीके से फ़र्ज़ी हस्ताक्षर करवाकर यूनियन के बैंक अकाउण्ट को जाम करवा चुका है। लेकिन इसके बावजूद मज़दूरों का संघर्ष जारी है। वे मज़बूती से धरना लगाकर मैदान में डटे हुए हैं। बीच-बीच में विभिन्न फ़ैक्ट्री यूनियन, मज़दूर संगठन उनके धरने पर आकर आर्थिक सहयोग से लेकर धरने और प्रदर्शन की गतिविधियों में शामिल होते रहते हैं। लेकिन इसके बावजूद कम्पनी का उत्पादन जारी है। इस तरह के मसले पर केन्द्रीय ट्रेड यूनियनों को सेक्टरगत हड़ताल का अल्टीमेटम सरकार और प्रबन्धन को देना चाहिए। उनके पास यह ताक़त है। और वे ऐसा कर सकती हैं। लेकिन ऐसा लगता है कि इन केन्द्रीय ट्रेड यूनियनों के नेतृत्व का काम वास्तव में संघर्षों और मज़दूरों के जुझारूपन को एक ऐसी सीमा के भीतर बनाये रखना, नियंत्रित रखना और विनियमित रखना है, जो सरकार और पूँजीपति वर्ग के लिए स्वीकार्य हो। यानी, मज़दूर आन्दोलन को सुरक्षित सीमाओं में क़ैद रखना और उसे कभी भी मालिकान और प्रबन्धन तथा सरकार के लिए एक वास्तविक चुनौती न बनने देना।

गुड़गाँव से लेकर बावल तक तमाम यूनियनों के होने के बावजूद अभी तक कोई सेक्टरगत और इलाकाई कार्रवाई नहीं बन पा रही है। इसकी वजह से कम्पनी प्रबन्धन और श्रम विभाग व शासन-प्रशासन की सेहत पर कोई असर नहीं पड़ रहा है। पिछले रविवार 3 दिसम्बर को 'एकजुटता सभा' में ऑटोमोबाइल इण्डस्ट्री काण्ट्रैक्ट वर्कर्स यूनियन (ए.आई.सी.डब्ल्यू.यू.) के साथियो ने कहा कि कम्पनी प्रबन्धन के खिलाफ़ तत्काल बेलसोनिका के मज़दूरों के मुद्दे पर सभी सभी संघर्षशील यूनियनों/संगठनों, मज़दूर कार्यकर्ताओं व सक्रिय जागरूक मज़दूरों को साथ लेकर संयुक्त रूप से संघर्ष को बढ़ाने की ज़रूरत है। लेकिन साथ ही इस इलाक़े में ऑटो सेक्टर की यूनियन और इलाक़ाई एकता को विकसित करने की भी ज़रूरत है। तभी जाकर तमाम कम्पनी प्रबन्धनों, शासन-प्रशासन व सरकार के मज़दूर विरोधी हमले का जवाब दिया जा सकता है। **अगर समूचे ऑटो सेक्टर का पूँजीपति वर्ग अपनी आपसी प्रतिस्पर्द्धा के बावजूद ऑटो सेक्टर के मज़दूर वर्ग को लूटने और कुचलने के लिए अपनी मैनेजिंग कमेटी की भूमिका निभाने वाली सरकार के साथ एकजुट है, तो मज़दूर भी तभी जीत सकते हैं जबकि समूचे ऑटो सेक्टर के मज़दूरों की एक यूनियन बने, जो किसी भी चुनावबाज़ पार्टी की पिछलग्गू न हो, बल्कि मज़दूर वर्ग की एक क्रान्तिकारी यूनियन की भूमिका अदा करे।**

'एकजुटता सभा' के बाद उपस्थित बेलसोनिका के संघर्षरत साथियों के धरने के समर्थन में सभी मज़दूर यूनियनों/संगठनों के प्रतिनिधियों की मीटिंग की गयी, जिसमें तय किया गया कि बेलसोनिका मज़दूरों के संघर्ष के समर्थन में सभी मिलकर संयुक्त कार्रवाइयों को अंजाम देंगे। आने वाला वक़्त ही बतायेगा कि इस संयुक्त कार्रवाई को किस हद तक और किस तरीके से अंजाम दिया जाता है। ऐसा इसलिए कहा जा रहा है कि पिछले समय के मारुति के मज़दूरों के संघर्ष के दौरान हुई संयुक्त कार्रवाइयों

(पेज 4 पर जारी)

काकोरी के शहीदों को याद करो! अवामी एकता कायम करो!

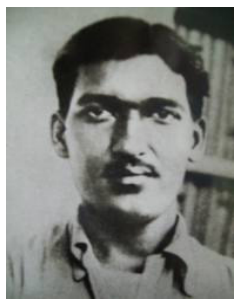

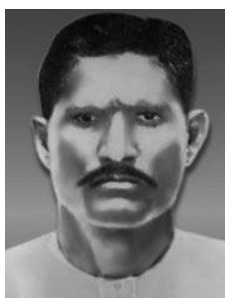

अशफ़ाक़-बिस्मिल का सन्देश, हिन्दू-मुस्लिम सबका देश !

क्यों ज़रूरी है इन क्रान्तिकारियों को याद करना?

आज़ादी के बाद 76 वर्षों में बड़े-बड़े कारख़ाने, विश्वविद्यालय, अस्पताल, हवाईअड्डे और आलीशान इमारतें खड़ी हुई। चौड़ी सड़कों पर लाखों गाडियाँ दौड़ने लगीं। लेकिन यह सारी तरक्की जिन मेहनतकशों के खून-पसीने की बदौलत हुई है, उनके हिस्से में आज भी ग़रीबी, बेरोज़गारी, महँगाई, भुखमरी ही आयी है। आज भी इस देश में रोज सात हजार बच्चे भूख, कुपोषण व छोटी-छोटी बीमारियों से मर जाते हैं। 55 प्रतिशत महिलाएँ खून की कमी की शिकार हैं। दूसरी तरफ हर साल लाखों टन अनाज गोदामों में सड़ा दिया जाता है। आज़ादी के बाद सत्ता में बैठी कांग्रेस से लेकर सभी सरकारों ने मुट्ठीभर पूँजीपतियों की ही तिजोरी भरने का काम किया है। भाजपा की मोदी सरकार उसी काम को बुलेट ट्रेन की रफ्तार से करने में लगी है। सभी भाजपा सरकारों ने पूँजीपतियों की सेवा करने और मज़दूरों-मेहनतकशों की लूट का इन्तजाम करने में हमेशा ही सारे रिकार्ड ध्वस्त किये हैं, लेकिन मोदी सरकार तो उनमें भी सबसे आगे है। बढ़ती बेरोज़गारी, महँगाई और भुखमरी की अब कहीं चर्चा भी नहीं होती है। बेवजह के मुद्दों को उछाला जाता है ताकि असली सवालों पर लोग सोच ही न सकें। आज फ़ासिस्ट मोदी सरकार द्वारा अपने फ़ासीवादी एजेण्डे के तहत मुस्लिम आबादी को दुश्मन के रूप में पेश किया जा रहा है ताकि हम अपने बुनियादी अधिकारों को भूलकर आपस में ही लड़ते रहें और इनकी घिनौनी राजनीति चलती रहे। एक-दूसरे के खिलाफ़ हमारे दिलों में नफ़रत भर दी गयी है, ताकि हम एक न हो सकें। अपने साथ होने वाली लूट और बदहाली के ख़िलाफ़ लोग लड़ न सकें, इसीलिए हमें धर्म और जाति के नाम पर लड़ाया जाता है।

"फूट डालो और राज करो" की नीति से हिन्दू और मुस्लिम को आपस में बाँटकर अंग्रेज़ हुक्मरान भी आजादी की लड़ाई को कमज़ोर करना चाहते थे। उस समय भी हिन्दू महासभा, आर.एस.एस. और मुस्लिम लीग जैसे संगठन उनकी इस चाल में मददगार बनते थे। लेकिन हमारे इन क्रान्तिकारियों ने हिन्दू-मुस्लिम एकता की मिसालें क़ायम की थी। गदर आन्दोलन के क्रान्तिकारियों की तरह ही बिस्मिल और अशफ़ाक़ के संगठन 'एच.आर.ए.' का भी कहना था कि धर्म लोगों का निजी मसला होना चाहिए और उसका राजनीति में इस्तेमाल बिल्कुल भी नहीं होना चाहिए। भगतसिंह और चन्द्रशेखर आज़ाद के संगठन 'हिन्दस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन एसोसिएशन' ने भी इसी बात को आगे बढ़ाया था। फाँसी चढ़ने से सिर्फ़ तीन दिन पहले लिखे ख़त में अशफ़ाक़उल्ला खाँ ने देशवासियों को आगाह किया था कि इस तरह के बँटवारे आज़ादी की लड़ाई को कमज़ोर कर रहे हैं। उन्होंने लिखा था, "सात करोड़ मुसलमानों को शुद्ध करना नामुमकिन है, और इसी तरह यह सोचना भी फ़िजूल है कि पच्चीस करोड़ हिन्दुओं से इस्लाम कबूल करवाया जा सकता है। मगर हाँ, यह आसान है कि हम सब गुलामी की जंजीरें अपनी गर्दन में डाले रहें।" अशफ़ाक़ उल्ला खाँ ने अपनी शहादत के ठीक एक दिन पहले गणेश शंकर विद्यार्थी को पत्र लिखकर कहा कि वह चाहते हैं कि अंग्रेजों के जाने के बाद देश में काले अंग्रेजों की जगह मेहनतकश जनता का राज क़ायम हो। उनका कहना था कि अगर इन विचारों के लिए कोई उन्हें कम्युनिस्ट कहता है तो भी उन्हें कोई दिक्कत नहीं है। इसी तरह रामप्रसाद बिस्मिल का कहना था कि "यदि देशवासियों को हमारे मरने का ज़रा भी अफ़सोस है तो वे जैसे भी हो हिन्दू-मुस्लिम एकता क़ायम करें। यही हमारी आखिरी इच्छा थी, यही हमारी यादगार हो सकती है।"

आज हमारे देश में एक फ़ासीवादी हुकूमत क़ायम है जो अंग्रेजों से भी बर्बर तरीके से आम जनता को लूटने, काले क़ानून बनाने और जाति-धर्म के नाम पर समाज में विभाजन पैदा करने में लगी हुई है। जिस तरह से अंग्रेज़ लुटेरे भाई-भाई को लड़ा रहे थे, उसी तरह से आज सत्ता में बैठे लोग भी जनता को बेवजह के मुद्दों पर आपस में लड़ा रहे हैं और धर्म व जाति के नाम पर बहाये गये लोगों के खून से वोट की फ़सल को सींच रहे हैं। आम मेहनतकश जनता को निचोड़कर पूँजीपतियों की तिजोरी भरने वाली इस सरकार के ख़िलाफ़ नौजवानों-छात्रों और इंसाफ़पसन्द नागरिकों को आगे आने और अवामी एकता क़ायम करने की ज़रूरत है।

दोस्तो! आज हमारा समाज एक बड़े बदलाव के मुहाने पर खड़ा है। ऐसे ही हालात में किसी भी समाज में बिस्मिल, अशफ़ाक़, आज़ाद और भगतसिंह जैसे नायक सामने आते हैं। जैसाकि भगतसिंह ने कहा है, "बम और पिस्तौल इन्कलाब नहीं लाते बल्कि इन्क़लाब की तलवार विचारों की सान पर तेज़ होती है।" आज जनता को जगाने का काम, जातिवाद साम्प्रदायिकता की आग में झुलस रहे लोगों को असल समस्याओं के बारे में शिक्षित, जागरूक और संगठित करने का काम ही सबसे ज़रूरी काम है। हमारे महान शहीदों को आज की युवा पीढ़ी की यही असल सलामी हो सकती है।

भारत

बहनो, भाइयो, साथियों, क्या आपको काकोरी ऐक्शन के महान शहीदों के नाम याद है? क्या आप जानते हैं कि इसी महीने में, 96 साल पहले 17 और 19 दिसम्बर 1927 को देश के चार जाँबाज़ नौजवान आजादी के लिए कुर्बान हो गये थे। एच.आर.ए यानी हिन्दुस्तान रिपब्लिकन एसोसिएशन से जुड़े इन नायकों के नाम थे रामप्रसाद बिस्मिल, अशफ़ाक़उल्ला खाँ, रोशन सिंह और राजेन्द्रनाथ लाहिड़ी। देश की आज़ादी के आन्दोलन में 'काकोरी ऐक्शन' एक ख़ास घटना है। 9 अगस्त 1925 के दिन 10 नौजवानों ने लखनऊ के पास काकोरी में चलती रेल रोककर सरकारी खजाने को लूट लिया था। 'काकोरी ऐक्शन' अंग्रेज हुकूमत के मुँह पर एक करारा तमाचा था। मुकदमे की नौटंकी करके कई क्रान्तिकारियों को क़ैद बामशक्कत और चार को फांसी की सज़ा सुनायी गयी जबकि चन्द्रशेखर आज़ाद को कभी गिरफ़्तार नहीं किया जा सका।

हमारे इन शहीदों ने अपनी जान इसलिए दी क्योंकि उनकी आँखों में एक ऐसे समाज का सपना था, जिसमें सबके लिए बराबरी और इन्साफ़ होगा, जहाँ अमीरी-ग़रीबी का भेद नहीं होगा, पैसे और ताक़त के जोर पर लोगों को गुलाम बना के नहीं रखा जा सकेगा। जहाँ जाति-धर्म, भाषा-क्षेत्र के नाम पर लोगों को बाँटा नहीं जायेगा। जहाँ मन्दिर-मस्जिद, लव जिहाद, गौ-हत्या के नाम पर लोगों का क़त्लेआम नहीं किया जायेगा। लेकिन क्या उनका यह सपना पूरा हुआ ?

सिलक्यारा सुरंग हादसा : मुनाफे की अँधी हवस की सुरंग

अपूर्व मालवीय

12 नवंबर के दिन जब पूरे देश में दिवाली की रोशनी जगमग हो रही थी उस समय उत्तराखण्ड के उत्तरकाशी जिले के सिलक्यारा सुरंग में भूस्खलन के कारण 41 मज़दूर 17 दिनों के लिए अँधेरे में कैद हो गये थे। हादसे के बाद बीतने वाले प्रत्येक घण्टे और दिन ने यह साबित कर दिया कि पूँजीवादी व्यवस्था में मज़दूरों की ज़िन्दगी को मुनाफे की हवस की बलि ही चढ़ जाना है। इस घटना ने सुरंगों और खदानों में काम करने वाले मजदूरों की ज़िन्दगी के उस अँधियारे को भी एक बार फिर सामने ला दिया है जो इन जगहों पर काम करने वाले मजदूरों को झेलनी पड़ती है।

17 दिनों तक चट्टानी दीवारों के घुप्प अँधेरे में क़ैद रहने के बाद जब ये मज़दूर बाहर निकले तो गोदी मीडिया के घटिया शोर-शराबे, नकली उत्साह और राजनीतिक बयानबाज़ियों के पीछे इस घटना के गुनहगारों और निर्माण कम्पनी को बचाने की कोशिश लगातार जारी थी! गोदी मीडिया से लेकर राजनीतिक नेताओं तक ने किसी ने भी यह सवाल नहीं किया कि आखिर 41 मजदूरों की ज़िन्दगी को जोखिम में डालने वाली कम्पनी पर क्या कार्रवाई होगी? न ही यह सवाल पूछा गया कि मज़दूरों के लिए सुरक्षा के इन्तज़ाम क्यों नहीं किये गये? एस्केप टनल (निकासी सुरंग) क्यों नहीं बनायी गयी? और सबसे बढ़कर यह कि पर्यावरणीय जोखिम वाले इस इलाक़े में यह सुरंग बनायी ही क्यों जा रही है, इसकी ज़रूरत ही क्या है?

सिलक्यारा सुरंग केंद्र सरकार की चार धाम परियोजना (ऑल वेदर रोड) का एक अहम हिस्सा है। लगभग 854 करोड़ की लागत से बनने वाली इस 4.86 किलोमीटर लंबी सुरंग का निर्माण 2018 से ही हो रहा है। घटना के बाद एक-एक करके जो तथ्य सामने आये उससे यह साफ़ ज़ाहिर हो गया कि पिछले 5 सालों से मज़दूर बिना किसी सुरक्षा इन्तजाम के 12 से 14 घण्टे काम करते थे! टीन शेड के बने कमरों में 10 से 12 मज़दूर एक साथ रहते थे जहाँ सफ़ाई नाम की कोई चीज़ नहीं थी! ज़्यादातर मज़दूर ठेके पर काम कर रहे थे, जिनका कम्पनी के पास कोई रिकॉर्ड नहीं था! यानी अगर इस हादसे में उनकी जान चली जाती तो कम्पनी उन्हें अपना मज़दूर मानने से भी इनकार कर सकती थी! और उनके परिजनों को कोई मुआवज़ा भी नहीं मिलता!

मज़दूरों को निकालने में क्यों लगे 17 दिन?

सवाल तो ये भी है कि मज़दूरों को निकालने में आखिर 17 दिन कैसे लग गये? इस सवाल को भी प्रकृति की ताक़त और मानवीय तकनीकी की कमज़ोरी के पीछे ग़ायब करने की कोशिश की जा रही है! लेकिन क्या अगर मजदूरों की जगह कोई टाटा- बिरला-अम्बानी या नेता-मंत्री होता तो भी क्या 17 दिन का ही समय लगता? इसका जवाब है नहीं!

फिर मज़दूरों को बचाने और उन्हें जल्दी निकालने में क्या बाधा आ रही थी? बाधा यह थी कि कम्पनी सुरंग को कोई नुकसान नहीं पहुँचाना चाह रही थी। घटना के दूसरे ही दिन तमाम भूगर्भ-विज्ञानी, पर्यावरणविद्, पत्रकार और बचाव दल पहुँच चुके थे। मज़दूरों को बचाने के लिए चार तरह के प्लान (ए, बी, सी, डी) बनाये गये थे। उस प्लान में सुरंग के ऊपर और बगल से भी ड्रिलिंग करने की योजना थी, जिसमें कम समय में ही मज़दूरों तक निकासी सुरंग बनायी जा सकती थी। लेकिन इससे सुरंग को नुकसान पहुँचता। असल में कम्पनी को मज़दूरों की जान से ज़्यादा चिन्ता सुरंग को बचाये रखने की थी। सुरंग में किसी भी प्रकार की तोड़फोड़ या छेद करने से कम्पनी को काफ़ी नुकसान हो सकता था। इस कारण कम्पनी का पूरा ज़ोर मलबे को हटाकर या उसमें ही ड्रिल करके मज़दूरों को निकालने पर था।

नया नहीं है सिलक्यारा का हादसा!

सिलक्यारा में जहाँ सुरंग बन रही है, वहाँ 60 साल पहले भी सुरंग बनाने के लिए सर्वे किया गया था, लेकिन पानी का स्रोत मिलने के कारण इस प्रोजेक्ट को रोक दिया गया था। इसके बाद यमुनोत्री के लिए रास्ता बनाया गया था। पर्यावरणविदों और भूगर्भ विज्ञानियों ने यहाँ सुरंग बनाने का बहुत विरोध किया था, क्योंकि जहाँ सुरंग बन रही है उसके ऊपर का पहाड़ गंगा-यमुना का कैचमेंट एरिया भी है। यह क्षेत्र भूस्खलन और भूकम्प की दृष्टि से भी बहुत ही संवेदनशील है। सुरंग में हुई इस घटना से पहले भी वहाँ भूस्खलन की कई छोटी-छोटी घटनाएँ हुई हैं। नवंबर 2022 में भी इसी तरह भूस्खलन हो चुका है लेकिन उस समय संयोग से किसी भी प्रकार के जान-माल का नुकसान नहीं हुआ था।

सिलक्यारा सुरंग हादसे को आकस्मिक प्राकृतिक घटना सिद्ध करने के तमाम प्रयास किया जा रहे हैं। लेकिन अगर इसकी पड़ताल की जाये तो जल्द ही यह समझ आ जायेगा कि यह कोई आकस्मिक प्राकृतिक हादसा नहीं बल्कि पूरी तरह से मुनाफ़ा-केन्द्रित आपराधिक कृत्य है जिसका ख़ामियाज़ा मज़दूरों और आम जनता को कभी भी भुगतना पड़ सकता है! सुरंग जिस क्षेत्र में बनायी जा रही है वह उच्च और निम्न हिमालय का वह क्षेत्र है जो भूकम्प की दृष्टि से बहुत ही संवेदनशील है। सुरंग के पास ही टेक्टोनिक फ़ॉल्ट लाइन गुज़र रही है। यानी यहाँ धरती के नीचे दो प्लेटें आपस में एक दूसरे के विरुद्ध ज़ोर लगा रही हैं। इस परियोजना की डीपीआर (डिटेल प्रोजेक्ट रिपोर्ट) में सुरंग बनाने के लिए चट्टानों की जो रॉक मास रेटिंग की गई है वह भी धरातलीय स्थिति से मेल नहीं खाती है। डीपीआर में चट्टानों की रेटिंग काफी ऊँची की गई है जबकि इस पहाड़ी की चट्टान बहुत ही ढीली और कमज़ोर है। डीपीआर में सुरंग के साथ ही एक एस्केप टनल (निकासी सुरंग) भी दर्शायी गयी है लेकिन वास्तविकता में इसका निर्माण ही नहीं किया गया है! जबकि 3 किलोमीटर से लंबी किसी भी सुरंग में एस्केप टनल बनाया जाना अनिवार्य है ताकि आपातकालीन स्थिति में वहाँ से लोगों को निकाला जा सके। इसके बावजूद डीपीआर में इन तमाम चीज़ों की झूठी रिपोर्ट लगाकर टनल को पास करवा दिया गया!

यह सुरंग चार धाम यात्रा का एक मार्ग है। इससे लोग सिर्फ एक घण्टा जल्दी पहुँच सकेंगे। लेकिन इसके लिए पूरे पहाड़ को ही खोद डाला गया है। जबकि इतने संवेदनशील क्षेत्र में अगर कोई प्राकृतिक आपदा आती है तो इसका ख़ामियाज़ा बड़े पैमाने पर आम जनता और यहाँ की स्थानीय आबादी को ही भुगतना होगा। यानी धन्नासेठ, व्यापारी, अमीरज़ादे, लुटेरे अपनी लूट से कुछ अपराधबोधग्रस्त होकर तीर्थयात्रा करना चाहें या अपने लूट के क़ायम रहने की कामना करने के लिए चार धाम यात्रा करना चाहें, तो उनकी यात्रा सुखद, मंगलमय और आरामदेह हो, इसके लिए भी मज़दूरों की जान को जोखिम में डाला जायेगा। अब "रामराज्य" में मज़दूरों-मेहनतकशों को इतनी कुर्बानी तो देनी ही पड़ेगी!

उत्तराखंड को आपदाओं के राज्य में परिवर्तित करने वाली योजनाएँ

केदारनाथ आपदा, रैणी आपदा, तपोवन-विष्णुगाड आपदा, जोशीमठ भू-धँसाव और अब सिलक्यारा टनल हादसा! ये हादसे और आपदाएँ आज हिमालय की नियति बनते जा रहे हैं। मुनाफ़े की अन्धी हवस में जिन परियोजनाओं को लागू किया जा रहा है उससे होने वाले नुकसान को केवल हिमालय ही नहीं बल्कि पूरे उत्तर भारत को भुगतना पड़ सकता है। हिमालय में बड़े-बड़े बाँधों से लेकर चार धाम परियोजना, ऋषिकेश-कर्णप्रयाग रेल परियोजना, पंचेश्वर बाँध परियोजना आदि ने पूरे हिमालय को तबाह करके रख दिया है। इसके परिणाम भी लगातार देखने को मिल रहे हैं।

पिछले कुछ सालों से पूरे हिमालय क्षेत्र में अतिवृष्टि, बादल फटना, भू-स्खलन, भू-धँसाव की घटनाएँ बहुत ज्यादा बढ़ गयी हैं। इससे बड़े पैमाने पर लोगों की जान तो गयी ही है बल्कि स्थानीय आबादी और भी कठिन परिस्थितियों में जीने को मजबूर हुई है। पीने के पानी और सिंचाई के प्राकृतिक जलस्रोत लगातार सूखते जा रहे हैं। प्राकृतिक आपदाएँ लोगों पर कहर बनकर टूट रही हैं! इसके बावजूद ये परियोजनाएँ बदस्तूर बढ़ती जा रही हैं। बड़ी-बड़ी ठेका कम्पनियों को फ़ायदा पहुँचाने, अमीरों की विलासिता और मुनाफे की अन्धी हवस में जिस प्रकार पूरे हिमालय के पारिस्थितिकी तंत्र को तबाह किया जा रहा है, आने वाले वक़्त में इसका ख़ामियाज़ा पूरे उत्तर भारत को भुगतना पड़ सकता है। हिमालय जैसे संवेदनशील क्षेत्र में किसी भी बड़ी परियोजना के ख़तरे को लेकर भूवैज्ञानिक और पर्यावरणविद् लगातार चेतावनी देते रहे हैं। लेकिन पूँजीवादी मुनाफ़ाख़ोरों के लिए पर्यावरणीय तबाही या मानव ज़िन्दगी की कोई क़ीमत नहीं होती। उन्हें अपनी मुनाफ़े, विलासिता और अय्याशियों के लिए नये-नये टापुओं व द्वीपों की ज़रूरत है, जो आजकल हिमालय भी बना हुआ है! इन परियोजनाओं से इनका हिमालय के दुर्गम इलाकों में पहुँचना, वहाँ पिकनिक स्पॉट बनाना, वहाँ के प्राकृतिक संसाधनों पर क़ब्ज़ा जमाना और लूटना ज़्यादा ही सरल और सुगम हो जायेगा! लिहाज़ा हर प्रकार के झूठ-फ़रेब, तीन-तिकड़म से या पर्यावरणीय क़ानूनों को बदलकर या उन्हें ताक पर रखकर इन परियोजनाओं को लागू करना है! भले ही इसकी क़ीमत व्यापक मेहनतकश आबादी अपनी जान देकर ही चुकाये! इन परियोजनाओं के कारण अगर भविष्य में कोई बड़ी आपदा आती है तो उसकी सबसे बड़ी कीमत आम जनता को ही चुकानी है। आखिर, सिलक्यारा सुरंग हादसे की कीमत भी वे 41 मज़दूर ही तो चुकाते!

गुड़गाँव से लेकर धारूहेड़ा तक की औद्योगिक पट्टी के मज़दूरों के जीवन और संघर्ष के हालात

(पेज 3 से आगे)

में कई तरह के ग़ैर-जनवादी तरीक़ों और व्यवहार की वजह से आन्दोलन को काफ़ी नुक़सान पहुँचा था। यही कहानी होण्डा के मज़दूरों के संघर्ष के दौरान दुहरायी गयी थी और यही कहानी बार-बार दुहराई जाती रही है। इसलिए संयुक्त कार्रवाइयों का यह फ़ैसला व्यवहार में उतरकर ही मज़दूरों के भीतर भरोसा और हौसला पैदा कर सकता है।

इस औद्योगिक पट्टी में मज़दूर आन्दोलन की समस्या

ट्रेड यूनियन कार्यवाइयों में "ग़ैर-राजनीतिक" यूनियनवाद व संशोधनवादी पार्टियों के बुर्जुआ सुधारवाद, अराजकतावाद, संघाधिपत्यवाद, अर्थवाद से लेकर दक्षिणपन्थी अर्थवाद तक का बोलबाला है। बेशक़ इनका आधार काफ़ी सिकुड़ भी चुका है क्योंकि व्यापक मज़दूर जनसमुदायों का अन्दर से इन पर भरोसा टूट रहा है, भले ही वे छोटे-मोटे काम या अर्ज़ी आदि लिखवाने के लिए विकल्पहीनता में इनके पास चले जाते हों।

इसके अलावा असंगठित व अनौपचारिक मज़दूरों के संघर्ष नौसिखुआपन, स्वत:स्फूर्ततावाद और अराजकता का शिकार होकर जल्द ख़त्म हो जाते हैं या फिर दूसरे छोर पर जाकर क़ानूनी लड़ाइयों में उलझकर रह जाते हैं। जैसे कि पिछले दिनों धारूहेड़ा के ठेका मज़दूरों का हुण्डई मोबीस व अन्य एक कारख़ाने तक सीमित और केन्द्रित संघर्ष और मानेसर में जे.एन.एस. व प्रोटेरियल के मज़दूरों के संघर्ष में देखा जा सकता है। ताज़ा घटना में पिछले दिनों धारूहेड़ा में एपटिव कम्पनी में गैर-संगठित ठेका मज़दूरों का स्वत:स्फूर्त संघर्ष दो दिन भी टिक नहीं पाया था। उसी कम्पनी के स्थायी मज़दूर जो कि केन्द्रीय ट्रेड यूनियन से जुड़े हैं, संघर्ष में शामिल नहीं हुए।

महत्वपूर्ण बात यह है कि एक बहुत बड़ी अनौपचारिक व औपचारिक क्षेत्र की ग़ैर-संगठित आबादी को संगठित करने का कार्यभार सामने है। "परम्परागत" केन्द्रीय ट्रेड यूनियनें अपनी आका संशोधनवादी पार्टियों जैसे माकपा और भाकपा की राजनीति के अनुसार मुख्यतः स्थायी मज़दूरों की माँगों तक सीमित रहती हैं। वे अब समझौता पत्रों को मोलभाव के साथ लागू करवा पाने की क्षमता भी खो चुकी हैं। वे जबरन वी.आर.एस. (स्वैच्छिक सेवानिवृति), आंशिक-पूर्ण तालाबन्दी, तबादले के ज़रिये छँटनी तक नहीं रोक पा रही हैं। इनका प्रतिरोध व संघर्ष अब मुख्यत: दो-तीन दिवसीय रस्मी प्रदर्शनों व ज्ञापनों, अर्ज़ियों को देने की कवायद तक सीमित हो चुका है।

वहीं दूसरी ओर "वर्गीय एकता" व "मज़दूरों की पहलक़दमी" के नाम पर कुछ मज़दूर संगठन जुझारू रूप से अर्थवादी, अराजकतावादी और संघाधिपत्यवादी व निम्नस्तरीय एकता की ट्रेड यूनियन नीति को ही लागू कर रहे हैं। इसकी ख़ासियत यह है कि इनका यह मानना है कि मज़दूर वर्ग के आन्दोलन में एक राजनीतिक नेतृत्व की आवश्यकता नहीं है और उनका नेतृत्व स्वत:स्फूर्त ढंग से बन जायेगा। जबकि इतिहास ने बार-बार यह साबित किया है कि बिना सचेतन राजनीतिक नेतृत्व के कोई भी वर्ग नहीं लड़ सकता और इससे कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता है कि नेतृत्व देने वाले व्यक्तियों का सामाजिक वर्ग मूल क्या है। फ़र्क़ इससे पड़ता है कि उनका राजनीतिक वर्ग क्या है : वे सर्वहारा वर्ग की अवस्थिति पर खड़े हैं, या पूँजीपति वर्ग की अवस्थिति पर। ऐसे अराजकतावादी व अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी संगठनों का संघर्ष और तेवर भी तेज़ी से सिकुड़ता ही जा रहा है।

इस समय समूचे ऑटो सेक्टर के मज़दूर आन्दोलन को संगठित कर ऑटो सेक्टर के पूँजीपति वर्ग और उसकी नुमाइन्दगी करने वाली सरकार के सामने कोई भी वास्तविक चुनौती देना तभी सम्भव है जब अनौपचारिक व असंगठित मज़दूरों को समूचे सेक्टर की एक यूनियन में एकजुट और संगठित किया जाय, उनके बीच से तमाम अराजकतावादी व अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी संगठनों को किनारे किया जाय जो लम्बे समय से उन्हें संगठित होने से वास्तव में रोक रहे हैं; और संगठित क्षेत्र के मज़दूरों को तमाम केन्द्रीय ट्रेड यूनियनों के समझौतापरस्त और दाँत व नाखून खो चुके नेतृत्व से अलगकर उस सेक्टरगत यूनियन से जोड़ा जाये। इन दोनों ही कार्यभारों को पूरा करना आज ऑटो सेक्टर के मज़दूर आन्दोलन को जुझारू रूप से संगठित करने के लिए अनिवार्य है।

जीवन, मुक्ति के सपनों, संघर्ष, और सृजन का दूसरा नाम है गाज़ा!
हर मुक्तिकामी, न्यायप्रिय और प्यार से लबरेज़ दिल के अन्दर धड़कता है गाज़ा!
हम सब हैं गाज़ा!

लता

365 वर्ग किलोमीटर में 23 लाख की आबादी वाली गाज़ा पट्टी फ़िलिस्तीन और विश्व में सबसे सघन आबादी वाला क्षेत्र है जो पिछले दो महीने से ज़ायनवादी इज़रायल की बम वर्षा, गोलाबारी, टैंक और मिसाइल हमले का शिकार है। कल्पना करना भी कठिन है कि आसमान से लगातार बरस रही मौत के बीच यह आबादी कहाँ जाती होगी क्योंकि 2006 से इज़रायल ने इसके चारों तरफ़ लौह घेरेबन्दी की हुई है। भोजन, पानी, ईंधन, कपड़े जैसी न्यूनतम ज़रूरतों से वंचित गाज़ा की आबादी लगातार भय, आतंक, दुख और तकलीफ़ में जी रही है। कल तक जो आशियाना था आज धूल और धुएँ के बादलों व मलबे के ढेर में बदल गया है और लोग इस ख़ाक में दबे अपने बेटे-बेटियों, भाई-बहन, माता-पिता या पड़ोसियों के घायल शरीर या शव ढूँढ़ रहे हैं। कहीं बच्चे बेतहाशा अपने माँ-बाप को ढूँढ़ रहे हैं तो कहीं माँ-बाप अपने बच्चों को ढूँढ़ रहे हैं। हर रोज़ कई सौ लोग मारे जा रहे हैं। वर्षों से गाज़ा की इंच-इंच पर सैटेलाइट और ड्रोनों से नज़र रख रहा ज़ायनवादी इज़रायल हमास के नेताओं को मारने के नाम पर एआई की मदद से उन रिहायशी मकानों को निशाना बना रहा है जहाँ अधिक संख्या में लोग रह रहे हैं।

यह अंक प्रेस में जाने तक गाज़ा में लगभग 20,000 फ़िलस्तीनी मारे जा चुके थे। इनमें 70 प्रतिशत बच्चे और औरतें हैं। इसके अलावा पिछले 6 दिसम्बर तक 43,616 घायल और 7,600 लोग लापता थे जिनकी संख्या रोज़ बढ़ रही है। गाज़ा के अलावा वेस्ट बैंक में 301 लोग, जिनमें करीब 80 बच्चे हैं, इज़रायली हमले में मारे जा चुके हैं और 3,600 से ज़्यादा घायल हैं। हर दिन बीतने के साथ सेटलर उपनिवेशवादी इज़रायल की बेचैनी बढ़ती जा रही है क्योंकि इतने आधुनिक हथियारों और दुनिया की सबसे विकसित युद्ध तकनॉलोजी के बावजूद हमास तक पहुँचना या उसे हरा पाना सम्भव नहीं हो पाया है। उल्टे इज़रायली सेना की सूचना के अनुसार ही 120 से ज़्यादा इज़रायली सैनिक गाज़ा में ज़मीनी हमले में फ़िलिस्तीनी प्रतिरोध योद्धाओं द्वारा मारे जा चुके हैं। वास्तव में, इज़रायल गाज़ा के भीतर हमास से हार रहा है। इसीकी बौखलाहट में हत्यारा इज़रायल बेगुनाह आम फ़िलिस्तीनियों पर अपने हमले कहीं अधिक घातक और आक्रामक करता जा रहा है।

गाज़ा की स्थिति

यह लेख लिखने यानी 6 दिसम्बर तक ताज़ा स्थिति के अनुसार गाज़ा की लगभग 18 लाख आबादी को इज़रायल ने धकेलकर पहले दक्षिण गाज़ा, फिर खान यूनुस और अब मिस्र की सीमा पर राफ़ा तक पहुँचा दिया है। मक्कार इज़रायली सेना ने पहले लोगों को दक्षिण गाज़ा में शरण लेने को कहा। उत्तर गाज़ा के लोग दक्षिण की ओर भागे। जब वे औरतों, बच्चों और बुज़ुर्गों के साथ वहाँ पहुँचे तो इज़रायली सेना ने वहाँ भी बमबारी शुरू कर दी। उत्तर गाज़ा और दक्षिण गाज़ा के लोगों को फिर वहाँ से इज़रायली सेना ने खान यूनुस की ओर धकेल दिया, वहाँ भी बमबारी शुरू कर दी और अब पूरी आबादी राफ़ा में धकेल दी गयी है जो गाज़ा का आखिरी इलाका है। यहाँ सबसे घातक बमबारी इज़रायल कर रहा है। यहाँ एक हवाईअड्डे जितने क्षेत्र में गाज़ा की लगभग 18 लाख आबादी सिमटकर रह गयी है। भीषण बमबारी जारी है और खान यूनुस से भी लोगों को निकलने को बार-बार कहा जा रहा है। युद्ध के नियमों के तहत जहाँ-जहाँ बमबारी नहीं की जा सकती है जैसे अस्पतालों, स्कूलों और शरणार्थी शिविरों आदि के आसपास, जहाँ निहत्थी फ़िलिस्तीनी जनता अपने बच्चों, बुजुर्गों और गर्भवती औरतों के साथ बमबारी से बचने के लिए शरण लेते हैं, वहाँ-वहाँ कायर इज़रायली सेना कारपेट बॉम्बिंग कर रही है। गाज़ा के सबसे बड़े अस्पताल अल-शिफ़ा समेत अनेक अस्पतालों को निशाना बनाकर इज़रायल ने मरीज़ों और डॉक्टरों सहित सैकड़ों लोगों की हत्या कर दी। इज़रायल बार-बार दावा करता रहा है कि इन अस्पतालों के नीचे बनी सुरंगों में हमास के लड़ाके छिपे हैं लेकिन कहीं भी वह अपने दावे साबित नहीं कर पाया। उल्टे, उसके इतने झूठ पकड़े गये कि वह पूरी दुनिया में मज़ाक का पात्र बन गया।

दूसरी ओर, गाज़ा पर हो रहे हमले का फ़ायदा उठाकर वेस्ट बैंक में ज़ायनवादी इज़रायली सेटलर फ़िलिस्तीनियों के घरों और जैतून के बागों को हड़पने में ज़ोर-शोर से लग गये हैं। इज़रायली सेना की मदद से फ़िलिस्तीनियों के घरों में घुस कर ज़ायनवादी सेटलर उन्हें मार रहे हैं। इज़रायल वेस्ट बैंक के शरणार्थी शिविरों में भी ख़ासकर युवा फ़िलिस्तीनियों को गिरफ़्तार कर रहा है। जेनिन शरणार्थी शिविर पर 9 नवम्बर को इज़रायली हमले में 10 लोग मारे गये थे।

गाज़ा की स्थिति भयावह है। सड़कों पर टैंकों से हमले और आसमान से बमबारी हो रही है। पूरे के पूरे शहर को जमींदोज़ कर दिया गया है। लोग टेंटों में बच्चों के साथ सर्दियों की रातें गुज़ार रहे हैं। क्रूर ज़ायनवादी इज़रायल गाज़ा के लोगों तक किसी भी सहायता को पहुँचने नहीं दे रहा, पानी, भोजन, दवा, ईंधन, अस्पतालों के लिए आक्सीजन व अन्य ज़रूरी वस्तुएँ तक गाज़ा में प्रवेश नहीं करने दे रहा है। उपनिवेशवादी इज़रायल ने चारों ओर घेरेबंदी कर गाज़ा को पहले ही खुले जेल में तब्दील कर दिया था और अब उसे नर्क बना दिया है। अस्पतालों के बाहर शवों की कतार लगी है और उन्हें दफ़न करने के लिए भी संसाधन नहीं जुट रहे हैं। सैकड़ों लाशें मलबे में दबी हैं जिन्हें निकालना तक मुश्किल हो रहा है। एक पत्रकार ने जान जोखिम में डालकर गाज़ा में बच्चों के शवों के सड़ने की ख़बर दिखायी तो उसे इज़रायली सैनिकों ने गोली मार दी। लाखों लोग भुखमरी के शिकार हैं। कई अन्तरराष्ट्रीय संस्थाओं ने आरोप लगाया है कि इज़रायल भुखमरी का इस्तेमाल हथियार के तौर पर कर रहा है। आबादी के बीच बीमारियाँ फैल रही हैं।

कहते हैं कि सबसे छोटे ताबूत सबसे भारी होते हैं। गाज़ा में मरने वाले बच्चों की संख्या देख कर फ़िलिस्तीनियों के कन्धों का भार महसूस किया जा सकता है। फ़िलिस्तीन के एक बच्चे से पूछा गया कि वह बड़ा होकर क्या बनना चाहता है तो उसने जवाब दिया : फ़िलिस्तीन में हम बच्चे बड़े नहीं होते!

अक्टूबर 7 से दिसम्बर 6 तक गाज़ा में हुआ विनाश

3 लाख रिहायशी मकान
339 स्कूल-कॉलेज-विश्वविद्यालय
167 धार्मिक स्थल
35 में से 26 अस्पताल
87 एम्बुलेंस

दूसरा नकबा

1948 में ब्रिटेन के सहारे ज़ायनवादी इज़रायल ने जिस तरह निहत्थे और बेगुनाह फ़िलिस्तीनियों को बन्दूक की नोक पर उनके घरों और ज़मीन से बेदखल कर दिया था और उनकी 78 प्रतिशत ज़मीन पर कब्ज़ा कर लिया था आज उसकी तुलना इज़रायल द्वारा गाज़ा और वेस्ट बैंक पर हमले से की जा रही है। 1948 में बर्बरता की सारी सीमाओं को पार करते हुए इज़रायल ने आधिकारिक आकलन के अनुसार 15,000 फ़िलिस्तीनियों को मौत के घाट उतार दिया था, हालाँकि वास्तविक संख्या इससे दोगुनी या यहाँ तक कि तीन-गुनी हो सकती है। साथ ही, करीब 7 लाख फ़िलिस्तीनियों को, जो उस समय फ़िलिस्तीन की अरब आबादी का 80 फ़ीसदी थे, उनके घरों से बेदख़ल कर दिया गया और उनके ही देश में और आस-पास के देशों में शरणार्थी बना दिया गया। फ़िलिस्तीनियों के पास उनके देश का मात्र 22 प्रतिशत भू-भाग रह गया जो गाज़ा और वेस्ट बैंक का हिस्सा है। और आज वास्तव में ये दोनों क्षेत्र भी इज़रायल के प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष औपनिवेशिक नियन्त्रण या घेरेबन्दी में हैं।

फ़िलिस्तीनी इतिहास के इस काले दौर को 'नकबा' कहते हैं जिसका अर्थ है आपदा। हालाँकि फ़िलिस्तीनी आबादी के लिए 1948 के बाद हर रोज़ नकबा जारी रहा है। लेकिन 7 अक्टूबर के बाद जिस भयावहता के साथ इज़रायल गाज़ा की बेगुनाह जनता को मौत के घाट उतार रहा है और उन्हें पलायन के लिए मजबूर कर रहे हैं उसे देखकर इस बर्बरता को दूसरा नकबा भी कहा जा रहा है जो निश्चित ही अतिशयोक्ति नहीं है। इस जारी हमले का सीधा निशाना फ़िलिस्तीन की जनता है और मकसद उनकी जगह-ज़मीन हड़पना है। कई इज़रायली मंत्री और फ़ौजी जनरल ऐसे बयान देते रहे हैं कि इज़रायल का मकसद फ़िलिस्तीनियों को पूरी तरह ख़त्म कर देना है।

1948 के नकबा के दौरान ब्रिटेन के सहारे फ़िलिस्तीन की 78 प्रतिशत ज़मीन हड़प कर भी सेटलर इज़रायली उपनिवेशवादियों को तसल्ली नहीं थी और वे धीरे-धीरे कर वेस्ट बैंक के भी बड़े हिस्से पर अपने सेटलमेंट यानी रिहायशी कॉलोनियाँ और कल-कारख़ाने बना रहे हैं। फ़िलिस्तीन के पास जो 22 प्रतिशत ज़मीन बची थी उसे भी इज़रायल हड़प रहा है। अब यह ज़मीन 20 प्रतिशत से भी कम रह गयी है।

असल में इज़रायल कोई देश नहीं है बल्कि जैसा हमने पहले ही बताया है, यह एक सेटलर उपनिवेशवादी परियोजना है जो आज भी जारी है। यह 1948 में जबरन बन्दूक की नोक पर हड़पकर, हथियाकर और लूटकर बना सेटलर उपनिवेश है जिसकी बुनियाद में है लाखों लोगों का नरसंहार, अपराध, नस्ली उत्पीड़न, ज़ोर-जबरदस्ती और विस्थापन। साम्राज्यवादी देशों की शह पर 1948 के बाद रोज़-रोज़ की लठैती और गुण्डागर्दी के दम पर नकबा जारी है। अरब विश्व में साम्राज्यवादी हितों की बलि चढ़ाकर फ़िलिस्तीन और साम्राज्यवादी हितों की नुमायन्दगी के लिए पैदा हुआ इज़रायल।

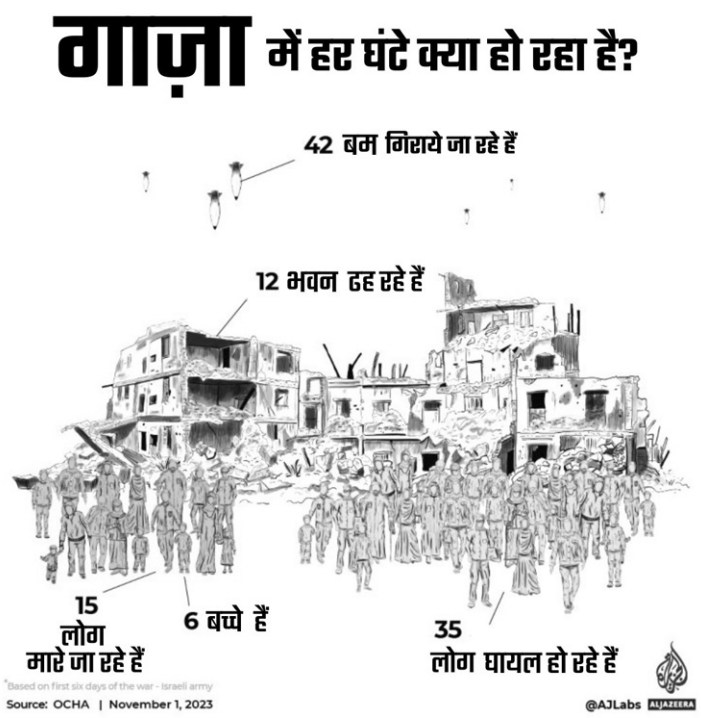

फ़िलिस्तीन का संघर्ष और हमास

1917 से ही ब्रिटेन के संरक्षण में फ़िलिस्तीन में ज़ायनवादियों की गुण्डागर्दी की शुरुआत हो गयी थी। इज़रायली फ़िलिस्तीनियों से ज़बरदस्ती उनकी ज़मीनें हथियाने लगे और स्थानीय संस्थानों पर कब्ज़ा जमाने लगे। 1939 में इस जबरन ज़मीन हथियाने और ब्रिटेन द्वारा फ़िलिस्तीन के बँटवारे यानी फ़िलिस्तीन और इज़रायल बँटवारे की बात कही गयी तो इसके ख़िलाफ़ फ़िलिस्तीन में विद्रोह भड़क उठा जिसमें पड़ोसी देशों से आये अरब लोग भी शामिल हुए। यानी फ़िलिस्तीन की जनता हमेशा अपने हक़ के लिए जुझारू संघर्ष करती रही है।

1990 के दशक के बाद जो सेक्युलर, प्रगतिशील व क्रान्तिकारी ताकतें मुक्ति संघर्ष को नेतृत्व दे रही थीं उनकी समझौतापरस्ती और बिखराव की वजह से जनता का विश्वास टूटा और गाज़ा में हमास का नेतृत्व बढ़ता गया। हमास ने फ़िलिस्तीन की जनता की महत्वाकांक्षाओं के अनुरूप नेतृत्व देने की शुरुआत की, जो था जुझारू संघर्ष का रास्ता। वहीं दूसरी ओर फ़िलिस्तीन की जनता नेतृत्व का अंधानुकरण भी नहीं कर रही है। वास्तव में, स्वयं हमास फ़िलिस्तीनी जनता के मुक्ति संघर्ष के कारण बहुत हद तक बदला है। हमास ने 2008 में इस्लामिक कट्टरपंथी संगठन मुस्लिम ब्रदरहुड से अपना रिश्ता तोड़ लिया जिसकी शाखा के तौर पर इसकी शुरुआत फ़िलिस्तीन में हुई थी। साथ ही अब वह इज़रायल के अन्त के लक्ष्य को छोड़कर 1967 के फ़िलिस्तीन-इज़रायल सीमा को स्वीकारने वाले दो राज्यों (इज़रायल व फ़िलिस्तीन) के समाधान को भी स्वीकार करता है। हालाँकि यह

(पेज 6 पर जारी)

हम सब हैं गाज़ा!

(पेज 5 से आगे)

स्वीकार एक प्रकार की समझौतापरस्ती है। दो-राज्यों के समाधान को 1967 की सीमाओं के आधार पर स्वीकारने का अर्थ है, धार्मिक आधार पर एक राज्य के गठन को स्वीकार करना, यानी इज़रायल के गठन को स्वीकार करना। सही कार्यक्रम यह है कि इज़रायल नाम की कोई चीज़ नहीं है और एक ही देश है : फ़िलिस्तीन; इस देश में एक सेक्युलर, आज़ाद राज्य की लड़ाई, उसकी क़ौमी मुक्ति की लड़ाई, एक ऐसे देश के लिए लड़ाई जिसमें मुसलमान, यहूदी, ईसाई व बद्दू कबीलों के लोग साथ में जनवादी उसूलों और कायदों के तहत रह सकें। इसके अलावा, मौजूदा समस्या का कोई समाधान नहीं है। और इस समाधान के रास्ते में बाधा हमास या कोई फ़िलिस्तीनी प्रतिरोध संगठन नहीं है, बल्कि इज़रायली सेटलर ज़ायनवादी राज्य और पश्चिमी साम्राज्यवाद है।

यह समझना बेहद ज़रूरी है कि हिन्दुस्तान के नागरिक के तौर पर फ़िलिस्तीनी जनता की आज़ादी की लड़ाई का समर्थन करने के लिए आपको हमास का विचारधारात्मक तौर पर समर्थन करने की कोई आवश्यकता नहीं है। साथ ही, फ़िलिस्तीनी मुक्ति युद्ध को सिर्फ़ हमास या फ़तह की विचारधारा तक सीमित भी नहीं जा सकता है। ग़ुलाम बनायी गयी क़ौम हमेशा लड़ती है। वह सही लाइन वाले नेतृत्व का इन्तज़ार नहीं करती। जो आज़ादी के लिए ज़मीन पर लड़ने को तैयार है, जनता इस विशिष्ट प्रश्न पर उसके साथ खड़ी होती है, चाहे वह उस नेतृत्व को विचारधारात्मक तौर पर स्वीकार करे या न करे। हमने खुद 200 साल की औपनिवेशिक ग़ुलामी झेली है। हमारा नैसर्गिक जुड़ाव और पक्षधरता फ़िलिस्तीनी जनता के साथ बनती है। फ़िलिस्तीनी मुक्ति संघर्ष का धर्म से कोई लेना-देना नहीं है। यह कौम की आज़ादी की लड़ाई है और अतीत में औपनिवेशिक गुलामी झेलने वाली जनता के तौर पर भारतीय जनता की नैसर्गिक एकता फ़िलिस्तीन के साथ बनती है, न कि ज़ायनवादी इज़रायली सेटलर राज्य के साथ जो कि उसी ब्रिटिश साम्राज्यवाद की पैदावार है, जिसकी गुलामी स्वयं हमने भी 200 साल झेली है। लेकिन फ़ासीवादी संघ परिवार आज़ादी के पहले भी बर्तानवी औपनिवेशिक हुकूमत के तलवे चाट रहा था और आज भी उसे ज़ायनवादी हत्यारों में अपनी छवि ही नज़र आती है।

इस पूरे प्रसंग से हम कहना चाह रहे हैं कि फ़िलिस्तीन की जनता के संघर्ष के साथ और उनके ख़िलाफ़ हो रहे अन्याय के विरुद्ध हमें अपनी आवाज़ उठानी है, उनके समर्थन में खड़ा होना है। आप इस अन्याय को समझते हैं तो फ़िलिस्तीन की संघर्षशील जनता का साथ दीजिए जो अपने अस्तित्व के लिए लड़ रही है, अपने बच्चों के भविष्य को बचाने के लिए संघर्ष कर रही है और जो अन्याय के ख़िलाफ़ समझौताविहीन संघर्ष का उदाहरण बन गये हैं उसका साथ दीजिए।

आज की दुनिया और फ़िलिस्तीन का संघर्ष

सेटलर उपनिवेशवादी इज़रायल की जारी इस बर्बरता ने हर किसी को अपनी स्थिति स्पष्ट करने को मजबूर कर दिया है। स्पेन और आयरलैण्ड के शासक वर्ग का एक हिस्सा भी गाज़ा पर बमवर्षा शुरू होने के समय से ही गाज़ा की आम जनता, बच्चों, बीमारों, डॉक्टरों, पत्रकारों और गर्भवती महिलाओं के साथ तथा नरसंहार के विरोध में हैं और उनकी सरकारों की तरफ से इज़रायल के ख़िलाफ़ सख़्त बयान आये हैं। कई लातिन अमेरिकी देशों व अरब देशों ने भी इज़रायल से या तो कूटनीतिक सम्बन्ध तोड़ लिये हैं या अपने राजनयिकों को वापस बुला लिया है।

लेकिन जर्मनी, फ़्रांस, ब्रिटेन और अमेरिका अपने-अपने देशों में प्रदर्शनों के दबाव के बावजूद इज़रायल के समर्थन में खड़े हैं। दबी जुबान से इन देशों के हुक्मरान कुछ-कुछ आम नागरिकों की मौत को कम करने की बात करते हैं लेकिन अभी तक कोई भी निर्णायक क़दम नहीं उठाया है। गाज़ा पर चुप्पी बनाये रखते हुए अमेरिका ने वेस्ट बैंक में घरों पर कब्ज़ा करने वालों का वीज़ा रद्द करने की घोषणा की है। पूरा गाज़ा तबाही और मौत का ताण्डव झेल रहा है ऐसे में नेतनयाहू की सरकार पर प्रतिबंध लगाने की जगह मात्र वेस्ट बैंक में उन इज़रायलियों पर प्रतिबंध की बात की गयी है जो घर और बाग पर कब्ज़ा करने का प्रयास कर रहे हैं, हालाँकि इससे कोई फ़र्क नहीं पड़ता क्योंकि इन ज़ायनवादी सेटलरों में से अच्छे-ख़ासे लोगों के पास पहले ही अमेरिकी पासपोर्ट व नागरिकता है और उन्हें वीज़ा की कोई आवश्यकता ही नहीं है। असल में, ये दिखावटी क़दम है, यह अमेरिका अच्छी तरह से जानता है और दुनिया भी समझती है।

विश्व का तमाम मुख्य धारा का मीडिया अभी कुछ दिनों पहले तक बस इज़रायल के समर्थन में बातें कर रही थी। लेकिन अब आम बेगुनाह, निहत्थे लोगों पर इज़रायल की बर्बरता देखकर और अपने देशों में फ़िलिस्तीन की आज़ादी के समर्थन में लगातार हो रहे विशाल विरोध प्रदर्शनों को देखकर उनका सुर कुछ बदला है, लेकिन फिर भी वे इज़रायल के आत्मरक्षा के अधिकार और आतंकवाद से लड़ाई की बकवास को दुहराना नहीं छोड़ रहे हैं।

इज़रायल औपनिवेशिक सेटलर राज्य है जो बसा ही है फ़िलिस्तीन की ज़मीन हथिया कर। अगर फ़िलिस्तीनी जनता अपने हक़ के लिए लड़ रही है तो उनपर हमला करने वाले इज़रायल को आत्मरक्षा का हक़ कैसे होगा? जब भारत के क्रान्तिकारी ब्रिटिश औपनिवेशिक सत्ता के ख़िलाफ़ लड़ रहे थे, तो क्या ब्रिटिश औपनिवेशिक सत्ता क्रान्तिकारियों और भारतीय लोगों की हत्या करने को अपनी "आत्मरक्षा का अधिकार" और प्रतिरोध योद्धाओं को आतंकवादी कह सकती थी? नहीं।

1947 से फ़िलिस्तीन की ज़मीन पर बढ़ते इज़रायली कब्ज़े का प्रमाण

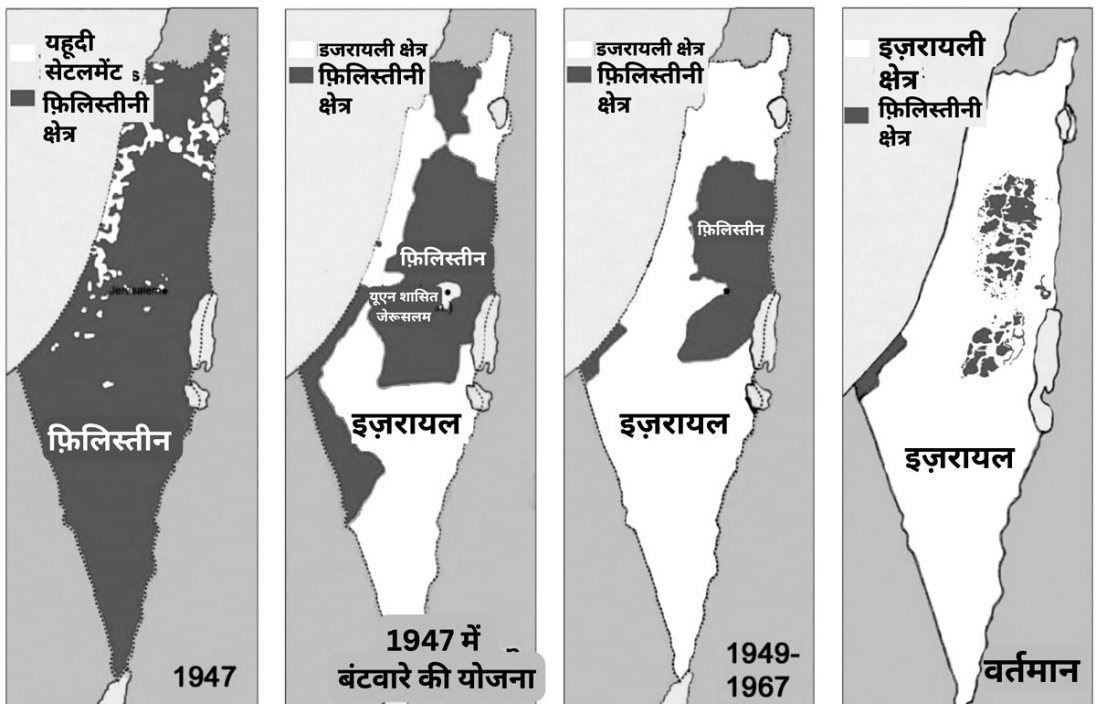

ख़ैर अपने देश में गोदी मीडिया का क्या कहना! पहले इज़रायली सेना की तकनीक और जाँबाज़ी की गाथा गा रहे थे। अब वे या तो खामोश हैं या बस युद्ध का उन्माद पैदाकर ख़बर को बेचने के लिए इसे रोमांचक बना रहे हैं।

अक़्सर यह कहा जाता है कि फ़िलिस्तीनियों के संघर्ष से अधिकतर पश्चिमी देशों ने मुँह मोड़ लिया है। पहली बात तो यह कि इन पश्चिमी साम्राज्यवादी देशों ने नहीं बल्कि उनके हुक़्मरानों ने मुँह मोड़ लिया है। लेकिन ये हुक़्मरान कभी फ़िलिस्तीनियों के संघर्ष के साथ थे ही नहीं। फ़्रांस, इंग्लैंड, जर्मनी जैसे साम्राज्यवादी राष्ट्र तो हमेशा ही इज़रायल के साथ थे। इज़रायल अरब विश्व में साम्राज्यवादी हितों की रक्षा के लिए उनका अपना मिलिट्री चेक-पोस्ट है। अपने हितों के विपरीत जाकर वे फ़िलिस्तीनी संघर्ष का समर्थन भला क्यों करेंगे। लेकिन हुक़्मरानों से इतर चाहे अमेरिका की जनता हो या यूरोप की जनता, हर जगह वह इस घोर अन्याय के ख़िलाफ़ बड़ी संख्या में सड़कों पर निकल रही है और अपने हुक़्मरानों पर दबाव बना रही है। उसी दबाव का नतीजा है कि आज यूरोपीय संघ फ़िलिस्तीन के मुद्दे पर बँट गया है। सच्चाई यही है : पूरी दुनिया की आम जनता की भारी बहुसंख्या फ़िलिस्तीन के साथ खड़ी है और इज़रायल से नफ़रत करती है।

इज़रायल की बौखलाहट

7 अक्टूबर को गाज़ा की जनता ने इज़रायल की दमघोंटूँ घेरेबंदी को तोड़ा जिसने 2006 से पूरे गाज़ा को खुली जेल में तब्दील कर दिया था। गाज़ा की ओर से ऐसे प्रतिरोध की कल्पना भी इज़रायल नहीं कर सकता था क्योंकि 2006 के बाद से जीवन की मूलभूत सुविधाओं से भी लगभग वंचित आबादी उसके आधुनिकतम हथियारों और तकनीक का क्या ही मुकाबला करती! इज़रायल जो अपने बेहद आधुनिक हथियार और खुफ़िया तकनीक बेचने के दौरान अपने ग्राहकों को गारंटी देता है कि तकनीक और हथियार का मात्र प्रयोगशाला में टेस्ट नहीं किया गया है बल्कि असल ज़मीन पर हत्याकाण्ड करने में उसे आजमाया गया है, यानी गाज़ा में आज़माया गया है, आज वह खुद हतप्रभ खड़ा है। अब उसके दावों पर कौन विश्वास करेगा? बौखलाहट में वह रिहायशों, अस्पतालों, स्कूल और शरणार्थी शिविरों पर घमाशान बमबारी किये जा रहा है।

अमेरिका हर साल इज़रायल को करोड़ों डॉलर अनुदान देता है। अमेरिका राष्ट्रपति बराक ओबामा ने 2016 से 2026 तक 10 वर्ष के लिए हर साल 380 करोड़ डॉलर सैन्य सहायता के रूप में इज़रायल को देने का समझौता किया था। इतना पैसा, सारे साम्राज्यवादियों का समर्थन और पूरे विश्व में हथियार का व्यापार करने वाले इज़रायल को 20 लाख की आबादी वाले गाज़ा के आम लोगों के संघर्ष ने चुनौती दी है। यह सम्भव ही इसलिए हो पाया कि जनता कभी हारती नहीं है। जब तक उसे जीत हासिल नहीं होती तब तक वह आज़ादी की अदम्य चाहत के साथ लड़ती है। आज़ादी के प्रति फ़िलिस्तीन की जनता के इसी अदम्य चाहत से डरता है ज़ायनवादी सेटलर उपनिवेशवादी इज़रायल और इसलिए बौखलाया हुआ है।

मज़दूर वर्ग और फ़िलिस्तीन का समर्थन

सभी देशों में सर्वहारा वर्ग अन्याय, शोषण, उत्पीड़न, रंगभेद और सत्ता के दमन के विरुद्ध आवाज़ उठाता है। दुनिया के हुक़्मरान चाहे जनता के किसी न्यायपूर्ण संघर्ष को कितना भी बदनाम करने का प्रयास करें, उसपर सवाल उठायें या उसकी विरोधी ताक़तों को सही ठहराने के लिए तीन-तिकड़म करें, सर्वहारा वर्ग न्याय का साथ देता है और अपने देश की आम मेहनतकश आबादी को अन्याय के ख़िलाफ़ जागरूक करता है।

आज हिन्दुस्तान के मज़दूर वर्ग को न केवल फ़िलिस्तीनी संघर्ष को समर्थन देना है बल्कि देश की आम-मेहनतकश आबादी को गाज़ा और वेस्ट बैंक में हो रहे अन्याय के ख़िलाफ़ जागरूक भी करना है। फ़िलिस्तीन में गाज़ा और वेस्ट बैंक अपने अस्तित्व की लड़ाई लड़ रहे हैं। हमारे देश में नरेंद्र मोदी की फ़ासीवादी सत्ता खुलकर इज़रायल का साथ दे रही है। अगर हम फ़िलिस्तीन के मुक्ति संघर्ष पर सर्वहारावर्गीय दृष्टिकोण नहीं अपनायेंगे तो जनता के बीच मालिकों की सेवा करने वाली फ़ासीवादी राजनीति अपनी जगह बनायेगी। इस तरह मज़दूर वर्गीय दृष्टिकोण की अनुपस्थिति में हमारी एकता कमज़ोर पड़ेगी और मेहनतकशों के बीच भी फ़ासीवादी राजनीति के पनपने के लिए रिक्त स्थान रह जायेगा। इसके अलावा अगर आज हम फ़िलिस्तीन के लिए आवाज़ नहीं उठाते हैं तो कल को जब हमारे देश की फ़ासीवादी सत्ता हमारे न्यायपूर्ण संघर्षों का दमन करेगी तब हमारे लिए भी कोई आवाज़ नहीं उठायेगा। सभी जगह मज़दूर वर्ग दुनिया के मज़दूरों को अपने भाई-बहन मानते हैं और इसलिए हम कभी भी अपने संघर्षों में अकेले नहीं होते। आज फ़िलिस्तीन की आम मेहनतकश आबादी को हमारे समर्थन की ज़रूरत है। हमें डटकर फ़िलिस्तीनी संघर्ष का समर्थन करना चाहिए और गाज़ा व वेस्ट बैंक में हो रहे क़त्लेआम का विरोध करना चाहिए।

क्रान्तिकारी सर्वहारा वर्ग ही दे सकता है जनविरोधी फ़ासीवादी सत्ता को निर्णायक शिकस्त

(पेज 1 से आगे)

जीत मिली और मध्य प्रदेश में तो उसने जीत के पिछले रिकॉर्ड तोड़ दिये। यह हरेक संजीदा पर्यवेक्षक व प्रेक्षक के लिए अविश्वसनीय था। कांग्रेस नेता कमलनाथ ने बताया कि कांग्रेस के कई प्रत्याशियों को अपने गाँवों तक से वोट नहीं मिला। नतीजों में सामने आया कि पोस्टल बैलट में कांग्रेस भाजपा से कहीं आगे थी। सभी ओपिनियन व एक्ज़िट पोल कांग्रेस की जीत को तय बता रहे थे, सिवाय दो गोदी सर्वेक्षणों के। ऐसे में भाजपा की जीत ने एक बार फिर से ईवीएम की विश्वसनीयता पर सवाल उठा दिया। निश्चय ही, महज़ ईवीएम के ज़रिये जनता के बीच फ़ासीवादी राजनीति की पकड़ को व्याख्यायित करना मूर्खतापूर्ण है। लेकिन यह कहना दूसरा मूर्खतापूर्ण और "अतिक्रान्तिकारी" छोर है कि ईवीएम का मुद्दा कोई मुद्दा ही नहीं है। ऐसी अवस्थिति की सारवस्तु यह हिरावलपंथी सोच है कि पूँजीवादी चुनावों का कोई भी अर्थ नहीं है और इसलिए ईवीएम घोटाला हो भी रहा हो तो क्या फ़र्क़ पड़ता है! बुर्जुआ चुनावों के रास्ते समाजवाद लाने का स्वप्न देखने वाले संशोधनवादी-सुधारवादी निश्चय ही चुनावों के रणनीतिक इस्तेमाल को सही मानते हैं। लेकिन लेनिनवादी अवस्थिति भी तब तक बुर्जुआ चुनावों में रणकौशलात्मक हस्तक्षेप की अवस्थिति है, जब तक कि क्रान्तिकारी स्थिति नहीं पैदा होती और जनता के विचारणीय हिस्से की बुर्जुआ चुनावों में भागीदारी जारी रहती है। ऐसे में, ईवीएम की विश्वसनीयता पर खड़े सवाल अहम और बिल्कुल सही हैं और इस पर कोई अवस्थिति न रखना एक मूर्खतापूर्ण क्रान्तिकारी जुमलेबाज़ी की अवस्थिति होगी। इसलिए, आइए समझते हैं कि ईवीएम पर क्यों भरोसा नहीं किया जा सकता है।

ईवीएम पर कतई भरोसा नहीं किया जा सकता! जनता को ईवीएम का बहिष्कार करना होगा!

देश की एक जानी-मानी संस्था एसोसिएशन फ़ॉर डेमोक्रेटिक रिफॉर्म्स (जनवादी सुधारों के लिए बना संघ) ने सुप्रीम कोर्ट में याचिका दायर कर यह प्रार्थना की थी कि यदि ईवीएम को भरोसेमन्द बनाना है, तो सभी ईवीएम मशीनों में वीवीपैट की व्यवस्था की जाये। वीवीपैट की व्यवस्था में जब आप ईवीएम में किसी को वोट डालते हैं, तो आपको एक पर्ची मिलती है, जो दिखलाती है कि आपने किसको वोट किया है। अगर आपके पास ऐसी कोई पर्ची या रसीद नहीं है, तो आप कैसे जान सकते हैं कि आपका वोट किसको गया, चाहे आपने बटन कोई भी दबाया हो? इस पर मोदी-शाह की हमेशा हिमायत करने वाले चुनाव आयोग ने सुप्रीम कोर्ट को कहा कि वह ऐसा नहीं कर सकता क्योंकि इसमें वक़्त लग जायेगा! यह किस प्रकार मज़ाकिया बहाना है? यदि चुनावों की विश्वसनीयता का सवाल हो, तो इतना वक़्त तो लगाया ही जा सकता है और लगाया ही जाना चाहिए। **चुनावों से व्यवस्था नहीं बदलती, लेकिन सर्वहारा वर्ग इस जनवादी अधिकार को छीने जाने या उसे बेकार बना देने की वकालत थोड़े ही करता है!** यह सर्वहारा वर्ग का ऐतिहासिक वैज्ञानिक विश्लेषण है कि चुनावों से व्यवस्था परिवर्तन नहीं होता, लेकिन उसका राजनीतिक नज़रिया यह है कि जब तक जनसमुदायों का एक विचारणीय हिस्सा पूँजीवादी जनवादी चुनावों में हिस्सेदारी करता है, तब तक क्रान्तिकारी सर्वहारा शक्तियाँ भी उनमें रणकौशलात्मक हस्तक्षेप करती हैं, ताकि सर्वहारा वर्ग के जनसमुदायों को इस या उस पूँजीवादी पार्टी का पिछलग्गू बनने के विरुद्ध चेताया जा सके, रोका जा सके और साथ ही समाजवादी कार्यक्रम को जनसमुदायों के बीच लोकप्रिय बनाया जा सके। इसीलिए हमें इस बात पर विचार करने की निश्चित ही आवश्यकता है कि आज भारत में जो पूँजीवादी चुनाव हो रहे हैं, वे वास्तव में जनवादी व पारदर्शी हैं या नहीं। आज इसी बात पर सवाल खड़ा हो चुका है। चुनाव आयोग द्वारा सुप्रीम कोर्ट में पेश शर्मनाक़ बहाने से यही प्रतीत हो रहा है।

दूसरा कारण जिससे ईवीएम निश्चित तौर पर सन्देह के घेरे में हैं, वह यह है कि मध्यप्रदेश में कांग्रेस को पोस्टल बैलट में भाजपा से ज़्यादा वोट मिले। किसी इक्का-दुक्का जगह ऐसे रुझान आते तो समझ में आता है। लेकिन पूरे प्रदेश में पोस्टल बैलट से एक रुझान सामने आये और ईवीएम से दूसरा रुझान सामने आये तो साफ़ है कि दाल में कुछ काला होने की पूरी सम्भावना है। साथ ही, ओपीनियन व एक्ज़िट पोल में भी भाजपा को हारते हुए दिखलाया गया था। इन दोनों ही चीज़ों से यह साफ़ इशारा मिलता है कि ईवीएम पर जनता कतई भरोसा नहीं कर सकती है।

आखिरी बात, जिस पर ग़ौर करने की ज़रूरत है, वह यह है कि ईवीएम पर तमाम इंजीनियरों, सॉफ्टवेयर विशेषज्ञों और आई.आई.टी. के प्रो. शुभाशीष तक ने सवाल उठाया है। हरि प्रसाद नामक एक इंजीनियर ने 2010 में ईवीएम को हैक किया था और उनका कहना था कि 2019 या 2023 में इस्तेमाल ईवीएम भी वैसी ही हैं, यानी जिन्हें हैक किया जा सकता है। लेकिन चुनाव आयोग ने बार-बार प्रयास के बावजूद हरि प्रसाद से कोई भी बात करने या उन्हें ईवीएम की जाँच करने का मौका देने से इंकार कर दिया। यहाँ तक कि इस इंजीनियर को एक समय यह सवाल उठाने के लिए जेल तक जाना पड़ा था। अभी भी चुनाव आयोग हरि प्रसाद का नाम सुनते ही दूसरी ओर देखने लगता है। हरि प्रसाद ने बताया कि चुनावों के नतीजों को बदलने के लिए केवल 10 प्रतिशत ईवीएम को हैक करने की आवश्यकता है। यह भी नहीं भूलना चाहिए कि सबसे पहले ईवीएम पर सवाल भाजपा ने ही उठाया था। भाजपा जब सत्ता में नहीं थी तब इसके एक नेता ने इस बारे में पूरी किताब ही लिख दी थी कि ईवीएम के ज़रिए चुनाव में घपला कैसे-कैसे किया जा सकता है। इस किताब की भूमिका लालकृष्ण आडवाणी ने लिखी थी। आज वही भाजपा दावा करती है कि ईवीएम में कोई घपला नहीं हो सकता!

इसके अलावा एक सूचना अधिकार आवेदन के जवाब में पता चला था कि 19 लाख ईवीएम मशीनें देश में ग़ायब हैं! कहाँ हैं वे मशीनें? और क्या उनके ज़रिये चुनावों के नतीजों में घपले नहीं किये जा सकते? हालिया वर्षों के चुनावों में कई बार चुनाव अधिकारी स्ट्रांग रूम से गलत समय पर ईवीएम ले जाते, भाजपा के नेता अपनी कारों में ईवीएम ले जाते पकड़े गये हैं। क्या इससे यह साफ़ शक़ नहीं पैदा होता कि 19 लाख ग़ायब ईवीएम मशीनों का इस्तेमाल भी चुनावों के नतीजों में घपला करने के लिए किया जा सकता है या किया जा रहा है?

भाजपाई और संघी पूछते हैं कि अगर भाजपा ईवीएम के ज़रिये चुनावों के नतीजों को अपने पक्ष में कर रही है तो कर्नाटक, हिमाचल प्रदेश और तेलंगाना में भाजपा कैसे हार गयी और कांग्रेस कैसे जीत गयी? यह मूर्खतापूर्ण सवाल है। क्योंकि यदि हर राज्य और हर चुनाव में भाजपा ऐसा करेगी, तो जनता सड़कों पर उतर आयेगी। यह खेल भी इसी प्रकार खेला जा सकता है और भाजपा समझदारी के साथ ऐसे ही खेलती लग रही है। हर चुनावों में यह करने के बजाय हिन्दी पट्टी के प्रदेशों में और लोकसभा चुनावों में चुनिन्दा सीटों पर इसका इस्तेमाल करना सुरक्षित है, ख़ासकर वे सीटें जिन पर ऐतिहासिक तौर पर जीत का अन्तर कम रहता है, जिन्हें अंग्रेज़ी में 'स्विंग सीट' कहा जाता है। वैसे भी 2024 के चुनावों के ठीक पहले होने वाले विधानसभा चुनावों में विशेष तौर पर तथाकथित हिन्दी पट्टी में अजेयता के मिथक को स्थापित करना भाजपा नेतृत्व के लिए ख़ास तौर पर ज़रूरी था और इन चुनावों में ईवीएम के इस्तेमाल किये जाने की पूरी सम्भावना स्पष्ट तौर पर नज़र आ रही है।

आखिरी बात यह कि दुनिया के सभी उन्नत और तकनीकी रूप से ज़्यादा आगे चल रहे देशों में ईवीएम मशीनों का नहीं बल्कि अभी भी बैलट पेपर का इस्तेमाल ही होता है, क्योंकि किसी भी इलेक्ट्रॉनिक यंत्र की विश्वसनीयता पर पूरा भरोसा नहीं किया जा सकता है। तकनोलॉजी विकसित होने के साथ उनको हैक करना या उनके प्रचालन को इच्छानुसार तोड़ना-मरोड़ना सम्भव हो जाता है। कई उन्नत देशों के तो सुप्रीम कोर्ट तक ने यह फ़ैसला दे दिया कि चुनाव जैसी अहम राजनीतिक प्रक्रिया ऐसी अविश्वसनीय मशीनों पर नहीं छोड़ी जा सकती। कुछ उन्नत देश जो कभी ईवीएम मशीनों के इस्तेमाल पर गये भी थे, वे कुछ ही समय बाद बैलट पेपर से चुनावों की व्यवस्था पर वापस आ गये। **जब पूरी दुनिया में ईवीएम मशीनों का इस्तेमाल नहीं हो रहा है, उनकी विश्वसनीयता पर प्रश्न खड़े किये जा चुके हैं और हमारे देश में स्पष्ट संकेत बार-बार मिल रहे हैं कि इन पर कतई भरोसा नहीं किया जा सकता है तो फिर भाजपा सरकार और चुनाव आयोग इस पर इस क़दर क्यों अड़े हैं?** यह अड़ियल रवैया ख़ुद सन्देह पैदा करता है। साथ ही, देश के 80 फ़ीसदी से ज़्यादा राजनीतिक दल चुनाव आयोग से सभी मशीनों में वीवीपैट लगाने या फिर बैलट पेपर से चुनाव कराने की माँग कर रहे हैं, तो जनवाद का भी यह तकाज़ा है कि चुनाव आयोग को यह बात मान लेनी चाहिए। लेकिन वह भी अड़ा हुआ है कि ईवीएम से ही चुनाव होंगे और वीवीपैट की व्यवस्था भी नहीं की जायेगी। **ये सब साफ़ इशारा कर रहे हैं कि ईवीएम मशीनों पर भरोसा कतई नहीं किया जा सकता है।**

लेकिन पूँजीवादी विपक्षी दलों के दाँत और नाखून झड़ गये हैं। वे इस पूँजीवादी जनवादी प्रक्रिया को बचाने के लिए संघर्ष करने की क्षमता खो चुके हैं। उनमें यह दम नहीं बचा कि ईवीएम से चुनावों से बहिष्कार का नारा दें। ऊपर से तमाम क्षेत्रीय पूँजीवादी दल अपनी अवसरवादी महत्वाकांक्षाओं में कभी भी भाजपा की गोद में बैठने को तैयार हैं। ऐसे में इस प्रश्न पर टिकाऊ विपक्षी एकता फ़िलहाल टेढ़ी खीर नज़र आती है। और इसीलिए ईवीएम के प्रश्न पर विपक्ष द्वारा किसी दृढ़ संघर्ष की गुंजाइश फ़िलहाल कम ही दिख रही है।

इस प्रश्न को भी जनता के जनान्दोलनों को उठाना होगा और ईवीएम के बहिष्कार का नारा देना होगा। जब जनता के अच्छे-ख़ासे हिस्से को इस मशीन पर यक़ीन ही नहीं है, तो इंसाफ़ का तकाज़ा है कि चुनाव आयोग इस माँग के स्वीकार करे, या ईवीएम के बहिष्कार के लिए तैयार रहे।

यह सच है कि ईवीएम के पहले के दौर में तमाम चुनावी पार्टियाँ बूथ कैप्चरिंग आदि जैसी हरकतें किया करती थीं। बाद के दौर में, शेषन जैसे नौकरशाहों ने इस पर रोक भी लगायी थी। ज़ाहिर है, जिस चुनावबाज़ पूँजीवादी दल के पास धनबल व बाहुबल होगा वह इलाके के अनुसार ऐसा करने की कोशिश कर सकता है। लेकिन इससे समूचे चुनावों के नतीजों को बदलना लगभग असम्भव होता है और कुछ इलाकों में ही इसका असर हो सकता है। ईवीएम द्वारा घपला स्वयं राज्यसत्ता द्वारा संस्थाबद्ध रूप में पूँजीवादी चुनावों को सारभूत तौर पर निरस्त कर देने जैसा है, भले ही औपचारिक तौर पर उनका अस्तित्व बना रहे। इसलिए जो ईवीएम घपले की तुलना अतीत की बूथ कैप्चरिंग आदि जैसी घटनाओं से करते हैं या जनता में शराब व पैसे बाँटने आदि से करते हैं, उन्हें अपनी राजनीतिक रतौंधी का इलाज करवाना चाहिए।

पूँजीवादी चुनावों के रास्ते फ़ासीवाद को निर्णायक शिकस्त नहीं दी जा सकती! इक्कीसवीं सदी में एक नयी फ़ासीवाद-विरोधी सर्वहारा रणनीति इसके लिए अपरिहार्य है!

लेकिन सवाल महज़ ईवीएम, वीवीपैट और पूर्ण रूप से पारदर्शी व जनवादी बुर्जुआ चुनावों का ही नहीं है। अब हम एक पल को मान लेते हैं कि जनता का कोई जुझारू जनान्दोलन ईवीएम को छोड़ बैलट पेपर की व्यवस्था पर आने के लिए सरकार और चुनाव आयोग को मजबूर कर देता है। यह भी मान लेते हैं कि ऐसे में 2024 में मोदी-नीत भाजपा चुनाव हार जाती है। इसकी गुंजाइश अभी बेहद कम है, लेकिन फिर भी कुछ समय के लिए यह कल्पना कर लीजिए। ऐसे में क्या होगा?

पहली बात यह है कि इक्कीसवीं सदी के फ़ासीवाद की ख़ासियत यह है कि यह आम तौर पर पूँजीवादी जनवाद के खोल को नहीं त्यागता है। 20वीं सदी के अपने प्रयोगों से उसने सबक लिया है और पूँजीपति वर्ग ने भी सबक लिया है। इस प्रकार के क़दमों से उसका वर्चस्व कमज़ोर होता

(पेज 8 पर जारी)

क्रान्तिकारी सर्वहारा वर्ग ही दे सकता है जनविरोधी फ़ासीवादी सत्ता को निर्णायक शिकस्त

(पेज 7 से आगे)

है और उसकी सत्ता कम टिकाऊ होती है। दूसरी बात, 20वीं सदी के उत्तरार्द्ध से, नवउदारवादी दौर की शुरुआत के साथ साम्राज्यवाद अपने एक ऐसे परजीवी और मरणासन्न दौर में पहुँचा, जहाँ पूँजीवादी राज्य की थोड़ी-बहुत बची जनवादी सम्भावनासम्पन्नता भी ख़त्म हो गयी। ऐसे में, फ़ासीवाद एक राज्य परियोजना नहीं रह गया। पूँजीवादी जनवाद का कोई तत्व ऐसा नहीं बचा था, जो फ़ासीवादी कार्रवाइयों को अंजाम देने में कोई विशेष बाधा पैदा करता। तीसरी बात, 20वीं सदी के उत्तरार्द्ध से अब तक के दौर के और विशेष तौर पर तथाकथित 'तीसरी दुनिया' में आये फ़ासीवादी संस्करण जैसे कि हिन्दुत्व फ़ासीवाद की ख़ासियत यह थी कि सत्ता पर द्रुत गति से चढ़ाई के बजाय वह सत्ता को एक लम्बे अवस्थितिबद्ध युद्ध में, मूलत: और मुख्यत:, अन्दर से 'टेक ओवर' कर लेता है; जैसा कि आर.एस.एस. ने किया है। सेना, पुलिस, नौकरशाही, सशस्त्र बल, न्यायपालिका व राज्य अन्य तमाम संस्थाओं में लम्बी घुसपैठ के ज़रिये पूँजीवादी राज्यसत्ता में संघी फ़ासीवाद ने एक बेहद प्रभावशाली, यहाँ तक कि काफ़ी हद तक नियन्त्रणकारी स्थिति बना ली है। ऐसे में, जब फ़ासीवादी शक्तियाँ सरकार से बाहर भी होती हैं, तो दण्डेतर तरीके से तमाम फ़ासीवादी कार्रवाइयाँ करती हैं और जनता के लिए, मज़दूरों और मेहनतकशों के लिए पूँजीपति वर्ग की एक अनौपचारिक सत्ता, एक अनौपचारिक राजनीतिक शक्ति की भूमिका निभाती हैं। और लम्बी मन्दी के दौर में, बार-बार उनका सरकार में पहुँचना भी अनिवार्य होता है, जैसा कि हम 1990 के दशक से लगातार देखते आये हैं। हर बार सरकार बनाने के साथ फ़ासीवादी प्रतिक्रिया, राज्य पर फ़ासीवादी शक्तियों की पकड़ और समाज में उनकी विनाशकारी भूमिका और भी मज़बूत और आक्रामक होती जाती है।

नतीजा यह है कि फ़ासीवाद औपचारिक तौर पर सरकार में आ-जा सकता है। इसके बावजूद, समाज और राज्यसत्ता के भीतर उसकी बेहद प्रभावी स्थिति मौजूद रहेगी। उसे किसी चुनाव में हराकर उसकी निर्णायक पराजय का स्वप्न देखने वाले उदारपंथियों व तथाकथित वामपंथियों का यह भ्रम अब तक दूर हो जाना चाहिए, लेकिन इस राजनीतिक नस्ल की ख़ासियत ही यही होती है कि इसके उदारपंथी पूँजीवादी विभ्रम कभी दूर नहीं होते।

ऐसे में, मान लें कि 2024 में भाजपा चुनाव हार कर सरकार से बाहर हो जाती है, हालाँकि अभी इसकी उम्मीद बेहद कम है। इसके नतीजे के तौर पर दो सम्भावनाएँ पैदा होंगी: पहला, 'इण्डिया' गठबन्धन की सरकार बने; दूसरा, कांग्रेस अपने बूते पर बहुमत हासिल कर ले। दोनों में से पहले की असलियत में तब्दील होने की गुंजाइश ज़्यादा है। दोनों ही स्थितियों में ऐसी सरकार आर्थिक नीतियों में कोई बुनियादी अन्तर नहीं लायेगी। केवल निजीकरण, छँटनी, तालाबन्दी और बेरोज़गारी पैदा करने वाली नीतियों को लागू करने की रफ्तार और अन्दाज़ थोड़ा बदल जायेगा। वजह यह है कि 'इण्डिया' गठबन्धन की सभी पार्टियाँ कोई मज़दूर वर्ग व मेहनतकश आबादी की नुमाइन्दगी तो करती नहीं हैं! वे भी पूँजीपति वर्ग, धनी किसानों-कुलकों, ठेकेदारों, बड़े व्यापारियों व क्षेत्रीय पूँजीपति वर्गों की ही नुमाइन्दगी करती हैं। लिहाज़ा, नवउदारवादी नीतियों को जारी करने की रफ्तार में परिवर्तन हो सकता है, थोड़ा परिवर्तन ग़ैर-जनवादी रवैये में हो सकता है, हालाँकि आज के दौर में इसकी उम्मीद भी कम ही की जा सकती है। साथ ही, एक बदलाव यह आ सकता है कि मनरेगा, सूचना का अधिकार, शिक्षा का अधिकार जैसे ही कुछ दिखावटी कल्याणवाद की नीतियाँ लागू की जा सकती हैं, जैसा कि यूपीए-I सरकार के दौर में हुआ था। इससे ज़्यादा देश की जनता कोई उम्मीद नहीं कर सकती है।

लेकिन दिक्कत यह है कि आर्थिक संकट जिस स्थिति में है, मुनाफ़े की औसत दर जितनी बुरी हालत में है और विश्व बाज़ार में बढ़ती प्रतिस्पर्द्धा से निपटने के लिए भारतीय पूँजीपति वर्ग को जिन मज़दूर-विरोधी नीतियों को अपने देश में ज़रूरत है, उसके लिए इस समय तानाशाहाना अन्दाज़ में नवउदारवादी पूँजीपरस्त नीतियों को लागू करने की ज़रूरत है। भारत का पूँजीपति वर्ग चाहता है कि किसी भी प्रकार के कल्याणवाद पर सरकारी ख़र्च न किया जाये, हालाँकि यह सारा पैसा जनता का ही है। वह चाहता है कि सरकारी ख़ज़ाने का इस्तेमाल पूँजीपतियों को क़र्ज़ से छूट देने, करों से छूट देने, विशेष पैकेज देने, रियायती दरों पर या मुफ़्त में बिजली, पानी व ज़मीन देने के लिए किया जाये और साथ ही सरकारी ख़ज़ाने में होने वाली कमी को जनता पर करों का बोझ लाद कर पूरा किया जाये। भले ही इससे महँगाई बढ़े, भले ही इससे बेरोज़गारी बढ़े। वास्तव में, भाजपा की मोदी सरकार पिछले 10 साल यही करती आयी है। इसीलिए समूचे पूँजीपति वर्ग का उसको ज़बर्दस्त समर्थन मिला है और अभी भी मिल रहा है।

लेकिन पूँजीवादी जनवाद का खोल बरक़रार रखने के भी कुछ आन्तरिक अन्तरविरोध होते हैं। अगर ईवीएम का घपला न हो और पूँजीवादी चुनाव कमोबेश पारदर्शी तरीके से हों, तो कई बार पूँजीपति वर्ग की आम सहमति वाला उम्मीदवार नहीं भी जीत पाता है! ऐसे में, पूँजीपति वर्ग के अकूत धन के बूते मोदी के फिर जीतने की सम्भावना ही ज़्यादा है, लेकिन ईवीएम का खेल न हो, तो एक गौण सम्भावना मोदी के हारने की भी है। लेकिन इस सूरत में भी कोई गठबन्धन सरकार या कांग्रेस सरकार वही करेगी, जिसका ज़िक्र हमने ऊपर के पैराग्राफ़ में किया है। और वह भी आज पूँजीपति वर्ग को स्वीकार नहीं है, क्योंकि आर्थिक संकट ने फिलहाल पूँजीपति वर्ग को इतना-सा दिखावटी कल्याणवाद बर्दाश्त करने की स्थिति में भी नहीं रखा है।

इसके अलावा, ऐसे दिखावटी कल्याणवाद से भी बेरोज़गारी और महँगाई पर कोई बुनियादी अन्तर नहीं पड़ेगा। वजह यह कि बढ़ते आर्थिक संकट यानी मुनाफ़े की गिरती औसत दर की स्थिति में पूँजीपति वर्ग द्वारा निवेश की दर को घटाया जायेगा। पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के ढाँचागत संकट को कोई पूँजीवादी सरकार अपने कल्याणवाद से दूर नहीं कर सकती। उल्टे पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के दायरे के भीतर संकट को ऐसा कल्याणवाद कालान्तर में बढ़ाता ही है और साथ ही पूँजीपति वर्ग की राजनीतिक प्रतिक्रिया को भी बढ़ाता है। नतीजतन, पूँजीपति वर्ग और ज़्यादा एकजुट होकर फ़ासीवादी शक्तियों को सत्ता में फिर से पहुँचाने की मुहिम में लग जाता है।

तीसरी बात, अगर 'इण्डिया' गठबन्धन या कांग्रेस की सरकार बनती भी है, तो इस बात की गुंजाइश बहुत कम है कि मोदी सरकार ने मज़दूर-विरोधी जितनी नीतियों, क़ानूनों व क़ायदों को लागू कर दिया है, वह नयी सरकार उसे वापस लेगी। मोदी सरकार द्वारा पूँजीपतियों के फ़ायदे के लिए और मज़दूरों की लूट और शोषण को बढ़ाने के लिए किये गये सारे इन्तज़ामों को कांग्रेस या 'इण्डिया' गठबन्धन की कोई भावी सरकार क़ायम ही रखेगी। इसके अलावा, मोदी सरकार ने जनता के जनवादी अधिकारों को निरस्त करने, उन पर हमला करने के जो इन्तज़ामात किये हैं, उसे भी ऐसी कोई ग़ैर-भाजपा सरकार क़ायम ही रखेगी क्योंकि पूँजीपति वर्ग को इसकी ज़रूरत है। ज़्यादा से ज़्यादा यह हो सकता है कि तात्कालिक तौर पर साम्प्रदायिक उन्माद भड़काकर चुनावों में फ़ायदा हासिल करने के लिए मोदी सरकार और उसकी समूची राज्य मशीनरी की मदद से संघ परिवार काशी और मथुरा जैसी जगहों पर मन्दिर की राजनीति को जिस तरह से भड़का रहा है, वह 'इण्डिया' गठबन्धन या कांग्रेस की कोई भावी सरकार न करे, हालाँकि कांग्रेस या ऐसा कोई गठबन्धन भी सच्चे मायने में, क्रान्तिकारी अर्थों में सेक्युलर नहीं है और वक़्त पड़ने पर नरम केसरिया लाइन का इस्तेमाल करते हैं।

चौथी बात, जब संघ परिवार और उसकी साम्प्रदायिक फ़ासीवादी शक्तियाँ सरकार में नहीं होंगे, तो भी 'इण्डिया' गठबन्धन या कोई भी अन्य पूँजीवादी सरकार उन पर लगाम कसने का कोई काम नहीं करेगी। पहले की तरह ही ज़मीन पर जनसमुदायों के ख़िलाफ़, मुसलमानों, दलितों व औरतों के विरुद्ध संघी हाफ़पैण्टियों के अपराधी लम्पट गिरोह जैसे कि विश्व हिन्दू परिषद्, बजरंग दल आदि आतंक फैलाते रहेंगे, ताकि वे "अनुशासित" रहें और पूँजीपति वर्ग के विरुद्ध आवाज़ न उठायें। हड़तालों को तोड़ने, मज़दूरों पर हमले करने का काम हर मज़दूर संघर्ष के दौरान ये फ़ासीवादी गिरोह करते रहेंगे, और पहले भी कांग्रेस सरकारों ने न सिर्फ इन पर कोई कार्रवाई नहीं की है, बल्कि मज़दूरों के विरुद्ध, विशेष तौर पर हड़तालों आदि के दौरान इनका इस्तेमाल भी किया है। मुम्बई और महाराष्ट्र में कांग्रेस की सरकार ने मज़दूर आन्दोलन के ख़िलाफ़ शिवसेना और संघी ताक़तों का खूब इस्तेमाल किया था।

यह समझने की ज़रूरत है कि 1970 के दशक के बाद से ही फ़ासीवादी पूँजीवादी शक्तियों और अन्य पूँजीवादी दलों में कोई वैसा विरोध नहीं रह गया है, जो 1910, 1920 या 1930 के दशकों में था या फिर द्वितीय विश्वयुद्ध के ठीक बाद के दौर में था। नवउदारवाद के दौर की शुरुआत के बाद से ही, यानी दीर्घकालिक मन्दी की शुरुआत के बाद से ही पूँजीपति वर्ग की आम तौर पर यह ज़रूरत थी कि फ़ासीवादी शक्तियाँ सरकार में या सरकार से बाहर सतत् मौजूद रहें। फ़ासीवादी शक्तियों ने भी यह समाहार कर लिया था कि आपवादिक क़ानून लागू करके और खुले तौर पर पूँजीवादी जनवाद को ख़त्म करके पूँजी की तानाशाही को लागू करने की कोई आवश्यकता नहीं है। इसके बजाय, पूँजीवादी जनवाद के खोल को बरक़रार रखना, राज्यसत्ता के समूचे उपकरण को अन्दर से लम्बी प्रक्रिया में टेकओवर करना, समाज में पोर-पोर में अपनी संस्थागत व्याप्ति को सुनिश्चित करना और अपने काडर-आधारित सांगठनिक ढाँचे को बरक़रार रखते हुए अवस्थितिबद्ध युद्ध जारी रखना बेहतर रणनीति है। हर आर्थिक संकट ऐसी फ़ासीवादी शक्ति के लिए औपचारिक तौर पर सत्ता पर काबिज़ होने का रास्ता खोलता है। फ़ासीवादी संघ परिवार 1990 के दशक की शुरुआत से ही ऐसे मौकों का कुशलतापूर्वक इस्तेमाल करता रहा है। लेकिन जब वह सरकार नहीं भी बनाता, तो समाज में उसकी व्याप्ति और उसकी मौजूदगी शक्तिशाली रूप में मौजूद रहेगी और जब भी ज़रूरत पड़ेगी, तो वह, विशेष तौर पर, मेहनतकश जनता के लिए पूँजीपति वर्ग की अनौपचारिक राज्यसत्ता का काम करेगा।

लुब्बेलुआब यह कि वह युग बीत गया जब फ़ासीवाद का एक आपदा के रूप में तीव्र, आकस्मिक उभार होता था, सत्ता में पहुँचने पर फ़ासीवादी शक्तियाँ आपवादिक कानूनों को लाकर पूँजीवादी जनवाद को औपचारिक तौर पर समाप्त कर देती थीं (क्योंकि उस समय पूँजीवादी जनवाद में इतनी सम्भावनासम्पन्नता थी कि वह फ़ासीवादी शक्तियों के रास्ते में बाधा बन सकता था!), और नतीजतन, कालान्तर में उनका उतना ही तीव्र, आकस्मिक और आपदा-समान ध्वंस होता था। वह फ़ासीवाद का दुनिया में पहला अवतरण था। अपने दूसरे अवतरण में फ़ासीवाद हूबहू 20वीं सदी के पूर्वार्द्ध के दौर की पुनरावृत्ति नहीं कर रहा है और इतिहास में ऐसा होता भी नहीं है। आज का दौर एक ऐसा दौर है जब यह नवउदारवादी पूँजीवादी सत्ता और पूँजीपति वर्ग की ज़रूरत है कि पूँजीवादी जनवाद का खोल बरक़रार रहे, क्योंकि इस मरे-गिरे पूँजीवादी जनवाद में ऐसा कुछ भी नहीं है जो कि बड़ी पूँजी की नग्न तरीके से सेवा में कोई बाधा पैदा करे; आज के दौर में, फ़ासीवादी शक्ति एक सतत् और शक्तिशाली मौजूदगी के साथ समाज में बनी रहती है और इस पूरे दौर में पूँजी के संचय की गति, आर्थिक संकट और उसके राजनीतिक संकट में तब्दील होने की स्थितियों के अनुसार सरकार बना सकती है और चुनाव हारकर सरकार गवाँ भी सकती है, लेकिन उस सूरत में भी वह समाज में ताकतवर स्थिति में बनी रहती है और अगली चढ़ाई के लिए अवस्थितिबद्ध युद्ध जारी रखती है। दीर्घकालिक संकट के इस पूरे दौर में पूँजीवादी व्यवस्था में यह आम नियम माना जा सकता है। अब फ़ासीवाद के निर्णायक अन्त का प्रश्न किसी पूँजीवादी जनवाद की पुनर्स्थापना से नहीं जुड़ा हुआ है, बल्कि समाजवादी क्रान्ति से जुड़ा हुआ है।

इसका यह अर्थ नहीं है कि फ़ासीवादी शक्तियों के विरुद्ध संघर्ष के लिए सर्वहारा वर्ग की विशिष्ट रणनीति नहीं होगी। वजह यह है कि आज के दौर में भी फ़ासीवाद कोई भी पूँजीवादी प्रतिक्रिया नहीं है, बल्कि एक ऐसी पूँजीवादी प्रतिक्रिया है, जो कि प्रतिक्रियावादी सामाजिक आन्दोलन का स्वरूप लेती है, जिसके

(पेज 9 पर जारी)

क्रान्तिकारी सर्वहारा वर्ग ही दे सकता है जनविरोधी फ़ासीवादी सत्ता को निर्णायक शिकस्त

(पेज 8 से आगे)

पीछे एक छद्म शत्रु यानी नकली दुश्मन पेश करने वाली और मिथकों को यथार्थ में तब्दील करने वाली फ़ासीवादी विचारधारा खड़ी होती है और इसके पीछे एक फ़ासीवादी काडर-आधारित संगठन मौजूद होता है। नतीजतन, क्रान्तिकारी सर्वहारा वर्ग के पास एक विशिष्ट फ़ासीवाद-विरोधी रणनीति होनी ही चाहिए, जिसके विशिष्ट तत्व हैं समाज के बीच अपने क्रान्तिकारी संस्थाबद्ध कार्य द्वारा अपनी खन्दकें खोदना, जनता के बीच जैविक राजनीतिक आधार विकसित करना, इलाक़ेवार कामों व संस्थाओं को विकसित करना और सर्वहारा वर्ग व आम मेहनतकश जनता की जुझारू व लड़ाकू शक्ति को संगठनबद्ध करना और सतत् फ़ासीवाद-विरोधी प्रचार कर फ़ासीवादी शक्तियों की कलई जनता के बीच खोल देना। आज संशोधनवादी यानी नकली संसदीय कम्युनिस्ट पार्टियों समेत किसी भी बुर्जुआ शक्ति के साथ *आम रणनीतिक मोर्चा* बनाकर, पूँजीवादी जनवाद की पुनर्स्थापना की कोई लड़ाई फ़ासीवाद-विरोधी संघर्ष का क्षितिज नहीं हो सकती है। 'ललकार-प्रतिबद्ध' समूह व कुछ अन्य छोटे क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट ग्रुपों द्वारा 21वीं सदी के फ़ासीवाद से लड़ने के लिए 20वीं सदी के पूर्वार्द्ध की फ़ासीवाद-विरोधी रणनीति को पुनर्जीवित करने की बातें न सिर्फ़ हास्यास्पद और मूर्खतापूर्ण हैं, बल्कि सर्वहारा वर्ग के लिए नुकसानदेह हैं। वह रणनीति तब भी आम तौर पर समूचे यूरोप व दुनिया के कुछ अन्य हिस्सों में असफल हुई थी और वह थी ही उस समय लागू करने के लिए जब पूँजीवादी जनवाद के खोल को भी नष्ट कर दिया गया हो और एक मज़बूत रहे मज़दूर आन्दोलन का पूर्ण ध्वंस हो चुका हो। आज यह रणनीति भयंकर विनाशकारी साबित होगी। जो लोग एक राज्य-परियोजना के रूप में फ़ासीवाद द्वारा पूँजीवादी राज्य के पूर्ण औपचारिक रूपान्तरण का इन्तज़ार कर रहे हैं, वे उसका इन्तज़ार करते ही रह जायेंगे क्योंकि अपवादस्वरूप आपवादिक सन्धि-बिन्दु के पैदा होने के अतिरिक्त यह सम्भावना अब नगण्य हो चुकी है। वैसे भी यह इन्तज़ार वास्तव में ये हास्यास्पद "कम्युनिस्ट" क्रान्तिकारी ग्रुप अपनी निष्क्रियता और कुछ न करने को सही ठहराने के बहाने के तौर पर ही कर रहे हैं।

इसलिए आज की फ़ासीवाद-विरोधी रणनीति के लिए ये तत्व अनिवार्य और अपरिहार्य हैं: **एक देशव्यापी क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट पार्टी का निर्माण व गठन, संस्थाबद्ध क्रान्तिकारी सुधार कार्यों द्वारा जनता के बीच जैविक सामाजिक आधार का विकास करना, इलाकेवार जनता के वर्गों को जुझारू व लड़ाकू रूप में संगठनबद्ध करना, फ़ासीवादी विचारधारा व राजनीति के विरुद्ध सतत् क्रान्तिकारी प्रचार कर उसकी असलियत को जनता के सामने उजागर करना, और तात्कालिक तौर पर बेरोज़गारी, महँगाई, भ्रष्टाचार, बेघरी, पहुँच से बाहर होती शिक्षा व चिकित्सा तथा साम्प्रदायिकता के विरुद्ध जनता के वर्गों के जुझारू जनान्दोलन खड़े करना जो कि इन सभी सवालों पर एक ठोस कार्यक्रम व ठोस नारा पेश करते हों**। इसमें से आज के दौर में, जब जनता बेरोज़गारी व महँगाई से अभूतपूर्व रूप से त्रस्त है, तो ये आखिरी काम तात्कालिक तौर पर अहम बन जाता है।

बेरोज़गारी, महँगाई, भ्रष्टाचार और साम्प्रदायिकता के विरुद्ध जनता के जुझारू जनान्दोलन खड़ा करना पहला क़दम है

ये वे सवाल हैं जो व्यापक जनसमुदायों को इस समय सबसे ज़्यादा प्रभावित कर रहे हैं चाहे वे मज़दूर हों, ग़रीब व निम्न-मध्यम किसान हों, शहरी व ग्रामीण अर्द्धसर्वहारा व निम्न-मध्यवर्गीय आबादी हो, आम घरों से आने वाले छात्र-युवा हों या फिर समाज के तमाम दमित समुदाय। बेरोज़गारी से मज़दूर, मेहनतकश और आम छात्र-नौजवान त्रस्त हैं, महँगाई ने आम जनता के घर की अर्थव्यवस्था ध्वस्त कर दी है, अच्छी व गुणवत्ता वाली शिक्षा और चिकित्सा निजीकरण के कारण आम लोगों के सपनों से भी बाहर हो गयी है। पेट्रोल-डीज़ल की कीमतों ने सारे रिकार्ड तोड़ दिये हैं, नतीजतन, यातायात से लेकर रसोई गैस तक महँगी हो गयी है, दवाएँ, खाने-पीने के सामान, सभी महँगे हो गये हैं। लोगों में इसके विरुद्ध गुस्सा और भयंकर असन्तोष भी है। लेकिन एक ओर तो कोई क्रान्तिकारी शक्ति देश के पैमाने पर लोगों को इन सवालों पर गोलबन्द और संगठित करने की गम्भीर कोशिश नहीं कर रही है, वहीं संघ परिवार अपने फ़ासीवादी साम्प्रदायिक प्रचार का ज़हर भी जनता के निम्न-मध्यवर्ग, लम्पट सर्वहारा वर्ग और आम मेहनतकश जनता के दिमागों में घोल रहा है और यह बताने की कोशिश कर रहा है कि मुसलमानों की "समस्या" का समाधान हो जाये, तो सारी समस्या का समाधान हो जायेगा और "रामराज्य" आ जायेगा! **सच्चाई यह है कि रामराज्य कल्पना के साहित्यिक जगत के अलावा कहीं था नहीं और इस काल्पनिक रामराज्य में भी दलितों, स्त्रियों, शूद्रों व कामगारों का स्थान सेवक और दास का ही है।**

ऐसे में, मज़दूरों, ग़रीब किसानों, अर्द्धसर्वहारा आबादी, निम्न मध्यवर्गीय आबादी, स्त्रियों, छात्रों-युवाओं के बीच इन मुद्दों पर जागरूकता लाना, उन्हें गोलबन्द और संगठित करना और इन सभी मुद्दों पर केवल अस्पष्ट उद्वेलन न करना, बल्कि इन सभी मुद्दों पर एक ठोस कार्यक्रम और ठोस नारा जनता को देना, सबसे ज़रूरी है।

मसलन, महँगाई पर केवल हाय-तौबा मचाने के बजाय लोगों को यह सच्चाई बताना कि वैसे तो पूँजीवादी व्यवस्था में महँगाई की समस्या से जनता को कोई स्थायी मुक्ति नहीं मिल सकती है, लेकिन तात्कालिक तौर पर अभी देश में अति-महँगाई (hyper-inflation) की जो स्थिति पैदा हो रही है, उसकी ज़िम्मेदार मोदी सरकार की एक नीति है : अमीरों पर से करों के बोझ को समाप्त करना, उनके ऋण माफ़ करना, उन्हें फ्री में बिजली, ज़मीन, पानी आदि प्राकृतिक संसाधन देना और दूसरी ओर सरकारी ख़ज़ाने में इसकी वजह से होने वाली कमी की पेट्रोलियम उत्पादों पर 60 प्रतिशत तक कर लगाकर और जीएसटी के ज़रिये जनता पर अप्रत्यक्ष करों का बोझ बढ़ाकर भरपाई करना। इसके विरुद्ध जनता का ठोस कार्यक्रम व ठोस नारा क्या होना चाहिए? अप्रत्यक्ष करों की व्यवस्था को क्रमिक प्रक्रिया में समाप्त करो, पेट्रोलियम उत्पादों पर करों व शुल्कों को तत्काल 30 प्रतिशत से कम करो, भारी जीएसटी दरों को समाप्त करो। इसके ज़रिये महँगाई से जनता को राहत दी जा सकती है। सवाल है जनता के वर्गों को इस सच्चाई से अवगत कराने का और उन्हें इस पर संघर्ष के गोलबन्द और संगठित करने का।

उसी प्रकार बेरोज़गारी के सवाल पर बिना किसी नतीजे वाला हो-हल्ला मचाने से कुछ नहीं होगा। हमारा इस सवाल पर ठोस कार्यक्रम क्या होना चाहिए? ठोस माँग और ठोस नारा क्या होना चाहिए? हमारा नारा होना चाहिए सभी नागरिकों के लिए रोज़गार की सरकारी गारण्टी या फिर गुज़ारे योग्य बेरोजगारी भत्ता सुनिश्चित करने वाला क़ानून बनाओ! इसे ही कई क्रान्तिकारी संगठनों ने नाम दिया है : भगतसिंह राष्ट्रीय रोजगार गारण्टी क़ानून (BSNEGA)। हमारा तर्क बिल्कुल सीधा है : अगर सरकार गाँव के ग़रीबों के लिए रोज़गार की गारण्टी और संवैधानिक अधिकार को स्वीकार कर रही है (मनरेगा के तहत) तो देश के बाकी ग़रीबों व बेरोज़गारों का क्या अपराध है? मनरेगा के तहत उतनी ज़िम्मेदारी मानते ही यह बात साफ़ हो जाती है कि सरकार को यह उत्तदायित्व सारे नागरिकों के लिए लेना चाहिए। यह भी स्पष्ट है कि ऐसा क़ानून बनने पर अगली लड़ाई उस क़ानून को लागू करवाने की होगी, जैसा कि मनरेगा की हालत देखकर आप समझ सकते हैं। केवल इस लड़ाई के ठोस अनुभवों के ज़रिये ही आम मेहनतकश जनसमुदाय क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट प्रचार की सच्चाई को आत्मसात कर सकते हैं जो बताता है कि पूँजीवादी व्यवस्था के दायरे के भीतर पूर्ण रोज़गार असम्भव है क्योंकि पूँजीवाद को बेरोज़गारों की एक रिज़र्व आर्मी की ज़रूरत हमेशा होती है। केवल पटना के दोन किहोते पीआरसी सीपीआई (एमएल) के "महासचिव" अजय सिन्हा के कहने से व्यापक जनसमुदाय ऐसा नहीं मान लेगा। ऐसा सोचना भी एक प्रकार का मनोगतवादी भाववाद है, लेनिन ने जिसके ख़िलाफ़ हरदम संघर्ष किया।

उसी प्रकार साम्प्रदायिकता के सवाल पर भी हम यूँ ही शोरगुल नहीं मचा सकते, बल्कि हमें इसके ख़िलाफ़ एक ठोस माँग और ठोस नारा सूत्रबद्ध करना होगा। हमें माँग करनी चाहिए कि धर्म का राजनीतिक व सामाजिक जीवन से पूर्ण विलगाव करने वाला एक सख़्त क़ानून बनाया जाना चाहिए जिसके अनुसार कोई भी व्यक्ति यदि सार्वजनिक राजनीतिक जीवन में किसी भी धर्म का ज़िक्र भी करता है, किसी धार्मिक समुदाय के प्रति टीका-टिप्पणी करता है, मन्दिर-मस्जिद का ज़िक्र भी करता है, तो उसे तत्काल गिरफ़्तार करने और राजनीतिक जीवन से उसे प्रतिबन्धित करने का क़ानून लाया जाये। इसमें क्या ग़लत है? इसे अगर सख़्ती से लागू किया जाये तो न तो कोई संघी फ़ासीवादी हिन्दुओं की धार्मिक भावनाओं का सियासत में इस्तेमाल कर पायेगा और न ही कोई ओवैसी राजनीति में मुसलमानों की धार्मिक भावनाओं का इस्तेमाल और न ही कोई सिख कट्टरपंथी अमृतपाल सिख जनता की धार्मिक भावनाओं का राजनीति में इस्तेमाल कर पायेगा। ऐसा क़ानून जो धर्म को पूर्ण रूप से व्यक्तिगत मसला बना दे, इसमें क्या ग़लत है? औपचारिक क़ानूनी अर्थों में भी देखा जाये तो अगर किसी दल का राजनीतिज्ञ जनता के बीच चुनाव लड़ने ला रहा है, कोई राजनीतिक अभियान चलाने जा रहा है, तो उसका मक़सद तो हर नागरिक के लिए नौकरी, शिक्षा, इलाज, घर आदि के अधिकारों को सुनिश्चित करना है न, चाहे उसका धर्म या जाति कुछ भी हो? तो फिर ऐसा क़ानून बनना ही चाहिए जो धर्म को राजनीति से पूर्ण रूप से अलग कर दे। इसके अभाव की वजह से ही हमारे देश में बेवजह का खून-ख़राबा और सिर-फुटौव्वल खूब होता है और फ़ासीवादी कुकुरमुत्तों को उगने के लिए खाद-पानी मिलता है। ऐसे क़ानून का नारा तो मूलत: 18वीं और 19वीं सदी में पूँजीपति वर्ग ने दिया था लेकिन अपनी अभूतपूर्व पतनशीलता के दौर में वह इस सच्चे क्रान्तिकारी सेक्युलरिज़्म का नारा भूल चुका है और आज उसे पहले से भी अधिक क्रान्तिकारी रूप में व ऊँचे वैज्ञानिक स्तर पर सर्वहारा वर्ग उठा रहा है।

इसी प्रकार भ्रष्टाचार, घर के अधिकार, शिक्षा के अधिकार, इलाज के अधिकार के लिए भी ठोस कार्यक्रम, ठोस माँगों व ठोस नारों पर जनता के वर्गों को संगठित करना आज फ़ासीवाद-विरोधी लड़ाई का पहला अहम क़दम है। इसके बिना, यह लड़ाई जीती नहीं जा सकती है।

अन्त में, हम कह सकते हैं कि इस तात्कालिक क़दम पर क्रान्तिकारी शक्तियों को तत्काल काम शुरू कर देना चाहिए, अपनी पूरी शक्ति और ऊर्जा के साथ इस काम को अंजाम देना चाहिए। साथ ही, लम्बी दूरी के उन लक्ष्यों पर भी काम आज से ही शुरू करना होगा जिनका ज़िक्र हम ऊपर आज के दौर की फ़ासीवाद-विरोधी रणनीति के मूल तत्वों के रूप में कर चुके हैं।

क्रान्तिकारी मज़दूर शिक्षणमाला – 16

अध्याय-14

मज़दूरी

• अभिनव

मज़दूर श्रम नहीं बल्कि श्रमशक्ति बेचता है

पहले के अध्यायों में हम एक बात समझ चुके हैं : हम मज़दूर पूँजीपति को श्रम नहीं बेचते हैं, बल्कि श्रमशक्ति बेचते हैं। पूँजीवादी समाज में यह दृष्टिभ्रम पैदा होता है कि हम अपना श्रम बेच रहे हैं और पूँजीपति हमें हमारी "मेहनत का मोल" या श्रम का मूल्य दे रहा है। यह विभ्रम पूँजीवादी व्यवस्था में पूँजीपतियों की साज़िश से नहीं पैदा होता है, बल्कि पूँजीवादी व्यवस्था का चरित्र स्वत: इस भ्रम को जन्म देता है और स्वयं पूँजीपति भी अधिकांशत: इस भ्रम से ग्रस्त होते हैं कि उन्होंने मज़दूरों को मेहनत का मोल दे दिया है। लेकिन यदि यह सच है और श्रम स्वयं एक माल है जिसे पूँजीपति मज़दूर से ख़रीदता है, तो श्रम का मूल्य कैसे पैदा होगा? ज़ाहिरा तौर पर उसी प्रकार जिस प्रकार एक पूँजीवादी माल उत्पादक समाज में किसी भी अन्य माल का मूल्य तय होता है, यानी, उस माल के उत्पादन में लगने वाले कुल सामाजिक श्रम की मात्रा से। लेकिन इसका एक बेतुका नतीजा निकलेगा : *श्रम का मूल्य उसके उत्पादन व पुनरुत्पादन में लगने वाले श्रम से तय होता है!* यह नतीजा निकालते ही हम एक तार्किक दुष्चक्र में फँस जाते हैं : श्रम का मूल्य श्रम से तय होता है!

दूसरी बात, यदि पूँजीपति मज़दूर को उसके द्वारा दिये गये श्रम की कुल मात्रा के बराबर मज़दूरी देता है, तो उसका मुनाफ़ा कहाँ से आता है? यदि हम श्रम को माल मानकर अपने विश्लेषण को आगे बढ़ाते हैं, तो पूँजीपति वर्ग के मुनाफ़े के स्रोत तक कभी नहीं पहुँच सकते। समूचे क्लासिकीय पूँजीवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र की यही समस्या थी और इसीलिए वह मुनाफ़े के स्रोत को व्याख्यायित नहीं कर पाता था। नतीजतन, भोण्डा पूँजीवादी अर्थशास्त्र तरह-तरह के हास्यास्पद सिद्धान्तों से मुनाफ़े के स्रोत की व्याख्या करता था और अभी भी करता है। मसलन, पूँजीपति द्वारा चालाकी से सस्ता ख़रीदना और महँगा बेचना, या पूँजीपति द्वारा अपने व्यक्तिगत उपभोग में संयम दिखलाना, इत्यादि।

मार्क्स लिखते हैं:

"पूँजीवादी समाज की सतह पर मज़दूर की मज़दूरी उसकी श्रम की क़ीमत के रूप में, श्रम की एक निश्चित मात्रा के बदले में मुद्रा की एक निश्चित मात्रा के रूप में, दिखायी देती है। नतीजतन, लोग श्रम के मूल्य की बात करते हैं और मुद्रा में इसकी अभिव्यक्ति को इसकी प्राकृतिक क़ीमत बोलते हैं। दूसरी ओर वे श्रम की बाज़ार कीमतों की बात करते हैं, यानी वे कीमतें जो इसकी आवश्यक क़ीमत[1] के ऊपर-नीचे मँडराती रहती हैं।

"लेकिन किसी माल का मूल्य क्या होता है? इसके उत्पादन में ख़र्च हुए सामाजिक श्रम का वस्तुगत रूप। और इस मूल्य की मात्रा का निर्धारण हम कैसे करते हैं? इसमें निहित श्रम की मात्रा के ज़रिये। फिर, मिसाल के तौर पर, 12 घण्टे के कार्यदिवस के मूल्य का निर्धारण कैसे होगा? 12 घण्टे के कार्यदिवस में निहित 12 काम के घण्टों से, जो कि एक बेतुकी दुहरावपूर्ण बात होगी।" (कार्ल मार्क्स, 1990. *पूँजी, खण्ड 1,* पेंगुइन पब्लिशर्स, लन्दन, पृ. 675)

सच्चाई यह है कि मज़दूर अपना श्रम नहीं बल्कि अपनी श्रमशक्ति पूँजीपति को बेचता है और इस श्रमशक्ति का मूल्य इसके उत्पादन में लगने वाले श्रम की मात्रा से निर्धारित होता है। श्रमशक्ति के उत्पादन व पुनरुत्पादन का अर्थ है, मज़दूर के काम करने की क्षमता का उत्पादन व पुनरुत्पादन। यानी मज़दूर के भरण-पोषण के लिए आवश्यक सभी वस्तुएँ व सेवाएँ, जिन्हें मज़दूर बाज़ार में ख़रीदता है। ये वस्तुएँ व सेवाएँ स्वयं माल होती हैं और उनका मूल्य उनमें लगने वाले सामाजिक श्रम की मात्रा से निर्धारित होता है। इसलिए मज़दूर की श्रमशक्ति के पुनरुत्पादन में लगने वाले सामाजिक श्रम की मात्रा और कुछ नहीं बल्कि उसके नियमित उपभोग में जाने वाले मालों के उत्पादन में लगने वाली सामाजिक श्रम की मात्रा है। यह भी याद रखने की ज़रूरत है कि मज़दूर के नियमित उपभोग में जाने वाले मालों की मात्रा का निर्धारण केवल व्यक्तिगत तौर पर एक मज़दूर के आधार पर नहीं बल्कि मज़दूर के परिवार के नियमित उपभोग में जाने वाले मालों के आधार पर होता है। वजह यह कि मज़दूरों की नस्ल को मज़दूर वर्ग ही आगे बढ़ाता है, पूँजीपति वर्ग नहीं। सामाजिक तौर पर, मज़दूरों के बेटे-बेटियाँ ही मज़दूर वर्ग की नस्ल को जारी रखने का काम करते हैं। इसलिए मज़दूर की श्रमशक्ति के मूल्य का निर्धारण वैयक्तिक मज़दूर के उपभोग के आधार पर नहीं बल्कि मज़दूर परिवार के उपभोग के आधार पर होता है। इसके ज़रिये वास्तव में पूँजीपति वर्ग मज़दूर की श्रमशक्ति के उत्पादन के ख़र्च को कम करता है क्योंकि इसके ज़रिये श्रमशक्ति के पुनरुत्पादन की भौतिक प्रक्रिया का बोझ मज़दूर परिवार पर डाल दिया जाता है। खाना बनाना, बच्चों का लालन-पालन, आदि मज़दूर परिवार में आम तौर पर स्त्रियों द्वारा किये जाने वाले पुनरुत्पादक श्रम द्वारा होता है और इसके ज़रिये श्रमशक्ति के पुनरुत्पादन की लागत को पूँजीपति वर्ग बेहद कम कर देता है क्योंकि यदि स्वयं उसको इस काम को व्यावसायिक तौर पर करना होता तो उसकी लागत कहीं ज़्यादा होती। इसलिए स्त्रियों का और आम तौर पर किसी का भी पुनरुत्पादक श्रम मूल्य नहीं पैदा करता लेकिन यह पूँजीपति वर्ग के लिए श्रमशक्ति के पुनरुत्पादन की लागत को कम करता है और इस रूप में उसके मुनाफ़े को बढ़ाने का काम करता है।

[1]यहाँ मार्क्स प्राकृतिक कीमत की ही बात कर रहे हैं। जिस चीज़ को एडम स्मिथ प्राकृतिक कीमत कहते थे, उसे ही फिज़ियोक्रैट चिन्तक आवश्यक कीमत कहते थे।

बहरहाल, पहली बात तो यह समझना है, जिस पर हम पहले भी बात करते आये हैं, कि मज़दूर अपना श्रम नहीं बेचता बल्कि अपनी श्रमशक्ति बेचता है। इस श्रमशक्ति का मूल्य ही मुद्रा में अभिव्यक्त होने पर *श्रमशक्ति की क़ीमत (price of labour-power)* कहलाता है। लेकिन क्या यही मज़दूरी है? नहीं। मज़दूरी-रूप (wage-form) को समझने का काम यहाँ शुरू होता है, ख़त्म नहीं। मज़दूरी-रूप वास्तव में एक ऐसी भ्रामक प्रतीति या दृश्य पैदा करता है जिसमें श्रमशक्ति के मूल्य का अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है और जो बचता है वह है "श्रम की क़ीमत"। आगे हम इसे विस्तार से समझेंगे। लेकिन आगे बढ़ने से पहले एक बुनियादी बात को दुहराना आवश्यक है।

मज़दूरी-रूप का विचारधारात्मक चरित्र

मज़दूरी-रूप शोषण के यथार्थ को छिपा देता है। वह इस तथ्य को छिपा देता है कि शासक वर्गों के जीवन की सारी आवश्यकताएँ, उसके शासन का अस्तित्व और उसका सारा ख़र्च वास्तव में उत्पादक वर्गों के अतिरिक्त श्रम के पूँजीपति वर्ग द्वारा विनियोजन के बूते ही सम्भव है। पूँजीवादी समाज में यह सच्चाई मज़दूरी-रूप के पर्दे के पीछे छिप जाती है क्योंकि दास समाज या सामन्ती समाज के समान यहाँ अतिरिक्त श्रमकाल और आवश्यक श्रमकाल के बीच का अन्तर सीधे दिखायी नहीं देता है। मार्क्स बताते हैं:

"इस प्रकार मज़दूरी-रूप कार्यदिवस के आवश्यक श्रम और अतिरिक्त श्रम, भुगतान किये हुए श्रम और बेगार श्रम के बीच के अन्तर के हर चिह्न को समाप्त कर देता है। ऐसा प्रतीत होता है समस्त श्रम का भुगतान किया गया है। बेगार प्रथा (corvée system) के तहत ऐसा नहीं था। वहाँ भूदास द्वारा अपने लिए किया जाने वाला श्रम और भूस्वामी के लिए किया जाने वाला जबरिया श्रम जगह और समय दोनों में ही स्पष्टता के साथ अलग होते थे। दास श्रम के मामले में, कार्यदिवस का वह हिस्सा जिसमें दास अपनी आजीविका के साधनों की पूर्ति करता था, जिसमें वह अपने लिए काम करता था, वह भी दास स्वामी के लिए किये जा रहे श्रम के रूप में प्रकट होता था। उसका समूचा श्रम ही बेगार या अवैतनिक श्रम के रूप में प्रकट होता था। इसके विपरीत, उजरती श्रम के मामले में, अतिरिक्त श्रम, या मुफ़्त में दिया गया श्रम भी, वैतनिक श्रम या भुगतान किये गये श्रम के रूप में दिखता है। एक मामले में सम्पत्ति-सम्बन्ध दास के अपने लिए किये जा रहे श्रम को छिपा देते हैं; दूसरे मामले में, मुद्रा-सम्बन्ध उजरती मज़दूर के उस श्रम का छिपा देते हैं, जिसके लिए उसे कोई मुआवज़ा नहीं मिलता।" (*वही,* पृ. 680)

पहले की सामाजिक संरचनाओं की तुलना में जो फ़र्क़ आता है वह यह है कि पूँजीवादी उत्पादन प्रक्रिया में आवश्यक श्रमकाल और अतिरिक्त श्रमकाल एक अभिन्न कार्यदिवस का हिस्सा होते हैं, जिन्हें जगह और समय में अलग करके नहीं देखा जा सकता, जैसा कि सामन्ती बेगार प्रथा में होता था। न ही यहाँ उजरती मज़दूर एक दास के रूप में स्वयं दास स्वामी की सम्पत्ति होता है, जिसके कारण सम्पत्ति-सम्बन्ध समूचे श्रमकाल को ही अतिरिक्त श्रमकाल के रूप में प्रकट करते हैं और उसका आवश्यक श्रम भी दास स्वामी के लिए किये जा रहे श्रम के रूप में प्रकट होता है।

पूँजीवादी समाज में उजरती मज़दूर एक विशिष्ट माल, यानी श्रमशक्ति के स्वामी के रूप में पूँजीपति, यानी उत्पादन के साधनों के स्वामी के सामने खड़ा होता है। वह "दोहरे अर्थों में स्वतन्त्र" होता है : उत्पादन के साधन के मालिकाने के "बोझ" से स्वतन्त्र और अपना यह विशिष्ट माल किसी भी पूँजीपति को बेचने के लिए स्वतन्त्र! एक दफ़ा जब वह अपना यह विशिष्ट माल, जो अपने ख़र्च होने की प्रक्रिया में अपने मूल्य से ज़्यादा मूल्य पैदा करने की विशिष्ट क्षमता रखता है, पूँजी के स्वामी को बेच देता है, तो पूँजीपति उसका दिये गये औसत कार्यदिवस में अपनी इच्छानुसार इस्तेमाल करने के लिए आज़ाद होता है। इस दिये गये कार्यदिवस के एक हिस्से में मज़दूर अपनी श्रमशक्ति के मूल्य के बराबर मूल्य पैदा करता है, जिसे हम आवश्यक श्रमकाल कहते हैं, जबकि दूसरे हिस्से में मुफ़्त में पूँजीपति के लिए काम करता है, उसके लिए बेशी मूल्य पैदा करता है; यह अतिरिक्त श्रमकाल होता है। लेकिन चूँकि इन्हें समय और जगह में अलग नहीं किया जा सकता, इसलिए ऐसा प्रतीत होता है एक यह सजातीय श्रमकाल है और इसमें किये गये समूचे श्रम के बराबर मूल्य ("मेहनत का मोल") मज़दूर को दे दिया गया। *यही मज़दूरी-रूप के विशिष्ट विचारधारात्मक फ़ेटिश चरित्र को दिखलाता है, यानी इसका वह चरित्र जो कि सारतत्व को, सच्चाई को उजागर नहीं करता, बल्कि उसे छिपाता है; यह मज़दूर के शोषण को छिपाता है, पूँजीवादी मुनाफ़े के स्रोत को छिपाता है।*

अब इस मज़दूरी-रूप को थोड़ा गहराई और विस्तार में समझते हैं।

मज़दूरी-रूप और श्रम की क़ीमत

श्रमशक्ति का मूल्य पूँजीवादी समाज में "श्रम की क़ीमत" ("price of labour") का रूप ग्रहण करता है। श्रम की क़ीमत और कुछ नहीं बल्कि श्रमशक्ति के मूल्य और औसत कार्यदिवस के घण्टों की संख्या का अनुपात होता है। यानी :

श्रम की क़ीमत = श्रमशक्ति का मूल्य/कार्यदिवस में घण्टों की संख्या

एक दिन की श्रमशक्ति का मूल्य कार्यदिवस की एक निश्चित लम्बाई से निर्धारित होता है, जो वास्तव में मज़दूर के जीवन का एक निश्चित हिस्सा होता है। मान लें कि एक सामान्य कार्यदिवस की लम्बाई 10 घण्टे है और एक दिन की श्रमशक्ति का मूल्य रु. 200 है, जो वास्तव में 5 घण्टे के श्रम का मौद्रिक समतुल्य है। मज़दूर को अपनी श्रमशक्ति का मूल्य यानी रु. 200 मिलते हैं जो 5 घण्टे के श्रम द्वारा पैदा होने वाले मूल्य के बराबर है, जबकि उसकी श्रमशक्ति एक दिन में 10 घण्टे के लिए काम करती है। अब यदि हम एक दिन की श्रमशक्ति के मूल्य को एक दिन के "श्रम के मूल्य" के रूप में अभिव्यक्त करें, तो हम कहेंगे कि 10

(पेज 11 पर जारी)

मज़दूरी

घण्टे के श्रम का मूल्य रु. 200 है। यानी यह श्रमशक्ति का मूल्य ही है जो एक दिन के श्रम के मूल्य को तय करता है, या, यदि हम उसे मुद्रा में अभिव्यक्त करें, तो एक दिन के श्रम की प्राकृतिक क़ीमत या आवश्यक क़ीमत को तय करता है। अगर श्रमशक्ति की क़ीमत श्रमशक्ति के मूल्य से ऊपर या नीचे होती है, तो *श्रम की क़ीमत* भी श्रम के तथाकथित मूल्य से ऊपर या नीचे होगी।

चूँकि श्रम का मूल्य वास्तव में श्रमशक्ति के मूल्य की ही एक अतार्किक व विचारधारात्मक अभिव्यक्ति है, इसलिए यह स्पष्ट है कि श्रम का मूल्य वास्तव में उस श्रम के उत्पाद के मूल्य से कम होगा। हमारे उपरोक्त उदाहरण में एक दिन के श्रम का मूल्य रु. 200 है, जो वास्तव में एक दिन की श्रमशक्ति का मूल्य ही है, जिसके पुनरुत्पादन में 5 घण्टे लगते हैं, लेकिन यह श्रमशक्ति एक दिन में 10 घण्टे तक कार्य करती है। नतीजतन, श्रम के उत्पाद का मूल्य रु. 400 है। पहले 5 घण्टे वह अपने मूल्य के बराबर मूल्य का उत्पादन करती है और उसके बाद के 5 घण्टे वह रु. 200 के बराबर अतिरिक्त मूल्य पैदा करती है। हम जानते हैं कि *श्रमशक्ति का मूल्य* उस *श्रमशक्ति द्वारा पैदा होने वाले उत्पाद के मूल्य* से नहीं तय होता है। श्रमशक्ति का मूल्य श्रमशक्ति के पुनरुत्पादन में लगने वाले सामाजिक श्रम से तय होता है, जबकि उसके उत्पाद का मूल्य इस बात से तय होता है कि वह श्रमशक्ति एक कार्यदिवस में कितने घण्टे तक काम करती है। *लेकिन जब हम श्रमशक्ति के मूल्य को श्रम के मूल्य की अतार्किक अभिव्यक्ति देते हैं, तो यह प्रतीत होता है कि मज़दूर को 10 घण्टे के श्रम का मूल्य या 10 घण्टे की मेहनत का मोल पूँजीपति द्वारा दे दिया गया है।*

यहाँ हम मज़दूरी-रूप के विचार-धारात्मक स्वरूप को समझ सकते हैं और देख सकते हैं कि वह किस प्रकार मज़दूर के शोषण और पूँजीपति के मुनाफ़े के रहस्य पर पर्दा डाल देता है। मार्क्स बताते हैं :

> "इसलिए हम श्रमशक्ति के मूल्य और क़ीमत के मज़दूरी के रूप में, या स्वयं श्रम के मूल्य और क़ीमत के रूप में रूपान्तरण के निर्णायक महत्व को समझ सकते हैं। मज़दूर व पूँजीपति दोनों के द्वारा पाली गयी न्याय की सभी धारणाओं, पूँजीवादी उत्पादन पद्धति के सभी रहस्यीकरणों, स्वतन्त्रता के बारे में पूँजीवाद के सारे विभ्रमों, भोंड़े अर्थशास्त्र की सभी क्षमायाचक युक्तियों, का आधार प्रतीति (appearance) का वह रूप है जिस पर हमने ऊपर विचार किया है, जो वास्तविक सम्बन्ध को अदृश्य बना देता है, और वस्तुत: उस सम्बन्ध के ठीक विपरीत सम्बन्ध को हमारी नज़रों के सामने पेश कर देता है।" (*वही*, पृ. 680)

लेकिन मज़दूरी-रूप के इस भ्रामक स्वरूप या *फ़ेटिश* चरित्र के पीछे पूँजीपति वर्ग या उसकी राज्यसत्ता की साज़िश नहीं होती है, बल्कि यह विभ्रम पूँजीवादी उत्पादन पद्धति की मूल प्रकृति से ही पैदा होता है। मार्क्स बताते हैं कि यही वजह है कि इस भ्रम के आवरण को चीरकर मज़दूरी-रूप के सारतत्व तक पहुँचने में दुनिया को काफ़ी वक़्त लगा। पूँजी और श्रम के बीच होने वाला विनिमय सर्वप्रथम अपने आपको किन्हीं भी दो सामान्य माल उत्पादकों के बीच में होने वाले विनिमय के रूप में प्रकट करता है, जिसमें एक माल उत्पादक दूसरे माल उत्पादक के माल से अपने माल का विनिमय करता है, क्योंकि इन दोनों मालों का मूल्य समान होता है। विनिमय की समतुल्यता माल उत्पादन में मूल्य के नियम का बुनियादी तत्व है। साथ ही, आम नियम के तौर पर, मज़दूर को मज़दूरी काम करने के बाद मिलती है और वास्तव में वह पूँजीपति को अपना श्रम उधार देता है न कि पूँजीपति उसे मज़दूरी के रूप में मुद्रा उधार देता है। अब चूँकि भुगतान के माध्यम के रूप में मुद्रा हमेशा दी गयी वस्तु का मूल्य या उसकी क़ीमत को बाद में वास्तवीकृत करती है, इसलिए भी ऐसा प्रतीत होता है कि पूँजीपति ने श्रमशक्ति का नहीं बल्कि श्रम का मूल्य या क़ीमत अदा की है। इसी भ्रामक रूप में एक अन्य कारक भी योगदान करता है। मज़दूर पूँजीपति को श्रमशक्ति बेचता है लेकिन उस श्रमशक्ति के ख़र्च होने के फलस्वरूप मज़दूर पूँजीपति को एक निश्चित, ठोस प्रकार का उपयोगी श्रम देता है, मसलन, वह सिलाई का काम हो सकता है, निर्माण का काम हो सकता है, या किसी और प्रकार का मूर्त श्रम हो सकता है। अब यही श्रम अपने अमूर्त रूप में मूल्य पैदा करने वाला तत्व है; अपने ठीक इसी रूप में वह अन्य किसी भी माल से तुलनीय नहीं है, यह बात स्वत: स्पष्ट नहीं होती और पूँजीवादी समाज में दैनिन्दिन चेतना का अंग नहीं होती है। इसलिए भी मज़दूरी-रूप का भ्रामक रूप या चरित्र मज़बूत होता है।

मज़दूर के नज़रिये से देखें तो वह रु. 200 के बदले 10 घण्टे का श्रम देता है। अब यदि माँग और आपूर्ति के समीकरण बदलने के कारण श्रमशक्ति की क़ीमत उसके मूल्य से ऊपर होकर रु. 250 हो जाये या उसके मूल्य के नीचे होकर रु. 150 हो जाये, तो भी मज़दूर 10 घण्टे के कार्यदिवस के दौरान काम करेगा ही करेगा। यह भी सम्भव है कि मज़दूरी-उत्पादों के सस्ते होने के कारण उसकी श्रमशक्ति का मूल्य रु. 200 से घटकर रु. 150 हो जाये या मज़दूरी-उत्पादों के महँगे होने के कारण उसका मूल्य रु. 200 से बढ़कर रु. 250 हो जाये। इस सूरत में भी वह 10 घण्टे का श्रम एक दिन में पूँजीपति को देगा ही देगा। यानी, उसकी श्रमशक्ति के मूल्य में बदलाव आये या उसकी श्रमशक्ति की क़ीमत में बदलाव आये, वह 10 घण्टे का श्रम देता है। लिहाज़ा, इस 10 घण्टे के श्रम के बदले उसे जितनी भी मज़दूरी मिलती है, वह उसे भी 10 घण्टे के श्रम के मूल्य या 10 घण्टे के श्रम की क़ीमत के रूप में ही दिखायी देती है।

इसके विपरीत, अब पूँजीपति के नज़रिये से देखें, तो वह हमेशा हर माल को सस्ते से सस्ता ख़रीदना चाहता है। वह श्रमशक्ति को भी सस्ता से सस्ता ख़रीदकर उससे ज़्यादा से ज़्यादा जीवित श्रम प्राप्त करना चाहता है। लेकिन उसे यह दिखता है कि वह कम-से-कम मुद्रा पूँजी ख़र्च कर अधिक से अधिक श्रम प्राप्त कर रहा है। व्यवहारत:, उसे केवल श्रमशक्ति की क़ीमत और उसके ख़र्च होने के फलस्वरूप मिल रहे जीवित श्रम द्वारा पैदा हो रहे नये मूल्य के अन्तर से फ़र्क पड़ता है। उसके लिए उसके मुनाफ़े का स्रोत उसकी वह चालाकी होती है, जिसके बूते वह श्रम और अन्य सभी मालों को कम-से-कम मुद्रा पूँजी में, यानी सस्ता से सस्ता ख़रीदता है, और उसे अधिकतम सम्भव क़ीमत पर बेचता है। इसलिए उसके दिमाग़ में कभी यह आता ही नहीं है कि अगर "श्रम का मूल्य" जैसी कोई चीज़ होती तो न ही मुनाफ़े का अस्तित्व सम्भव होता और न ही पूँजी का। अगर वह श्रम का मोल देता, यानी श्रम द्वारा जितना भी मूल्य पैदा हो रहा है, वह मज़दूर को दे देता तो उसकी मुद्रा पूँजी में तब्दील हो ही नहीं सकती थी। *अपनी-अपनी सामाजिक वर्ग अवस्थितियों के कारण स्वत:स्फूर्त तौर पर, अपने अलग-अलग कारणों से, मज़दूर और पूँजीपति दोनों को ही मज़दूरी श्रम की क़ीमत दिखायी देती है।*

इसके अलावा, दो अन्य कारणों से भी मज़दूरी पूँजीवादी समाज में श्रमशक्ति के मूल्य के एक रूप में नहीं बल्कि श्रम के मूल्य या मौद्रिक तौर पर श्रम की क़ीमत के रूप में प्रकट होती है। पहला कारण है कार्यदिवस की लम्बाई बढ़ने या घटने पर मज़दूरी में परिवर्तन होना। चूँकि मज़दूरी श्रमशक्ति के मूल्य और कार्यदिवस के घण्टों की संख्या का अनुपात है, इसलिए यदि कार्यदिवस की लम्बाई बढ़ती है या घटती है, तो मज़दूरी भी आम तौर पर बढ़ती या घटती है। लेकिन इसका यह अर्थ कतई नहीं है कि मज़दूरी श्रम की क़ीमत है; तब भी वह श्रमशक्ति की क़ीमत ही होती है। प्रति घण्टा मज़दूरी पर इससे कोई फ़र्क नहीं पड़ता है। दूसरा कारण यह है कि पूँजीवादी समाज में समान कार्य करने वाले मज़दूरों की वैयक्तिक मज़दूरी में अन्तर मौजूद होते हैं। मार्क्स कहते हैं:

> "गुलामी की व्यवस्था में भी ये वैयक्तिक अन्तर मौजूद होते हैं, लेकिन वहाँ वे किसी भ्रम को जन्म नहीं देते, क्योंकि इस मामले में श्रमशक्ति बेबाक और खुले तौर पर, बिना किसी साज-सिंगार के बिकती है। दास व्यवस्था में बस इतना होता है कि औसत से ऊपर वाली श्रमशक्ति का फ़ायदा और औसत से नीचे वाली श्रमशक्ति का नुकसान दास-स्वामी को उठाना होता है; जबकि उजरती श्रम की व्यवस्था में यह सीधे स्वयं मज़दूर को प्रभावित करता है, क्योंकि एक मामले में उसकी श्रमशक्ति उसके द्वारा बेची जाती है, जबकि दूसरे मामले में किसी तीसरे व्यक्ति द्वारा बेची जाती है।" (*वही,* पृ. 682)

मज़दूरी के विविध रूप

मार्क्स बताते हैं कि सबसे पहले तो यह समझ लेना आवश्यक है कि मज़दूरी पूँजीवादी समाज में कई विविध रूप लेती है और उन सब पर अलग से चर्चा न तो सम्भव है और न ही आवश्यक। मसलन, मज़दूरी कालिक-मज़दूरी (time-wages) या पीस-रेट मज़दूरी (piece-wages) का रूप ले सकती है। इसके अलावा, कहीं-कहीं ऐसा भी होता है कि पूँजीपति द्वारा शुरुआत में ही एक लम्बे समय तक के लिए एडवांस में मज़दूरी देकर मज़दूर को आंशिक तौर पर अस्वतन्त्र मज़दूर पर रखा जाता है; यहां मज़दूरी कुछ अलग रूप सामने आता है। लेकिन ये महज़ अलग-अलग रूप हैं और इससे मज़दूरी-रूप की सारवस्तु पर कोई गुणात्मक प्रभाव नहीं पड़ता है।

दूसरी बात, जो शुरू में ही समझ लेने की आवश्यकता है वह यह कि मुद्रा में मज़दूरी, यानी श्रमशक्ति की क़ीमत, और वास्तव में इस मज़दूरी से जो मज़दूरी-उत्पाद ख़रीदे जा सकते हैं, उनके बीच का अन्तर वास्तव में सांकेतिक मज़दूरी (nominal wages) और वास्तविक मज़दूरी (real wages) का अन्तर है। यह अन्तर मज़दूरी-उत्पादों की क़ीमत घटने पर मज़दूरों के हित में और मज़दूरी-उत्पादों की क़ीमत बढ़ने पर मज़दूरों की हानि की दिशा में बढ़ सकता है। साथ ही, मुद्रा का मूल्य घटने पर भी यह अन्तर मज़दूरों को हानि पहुँचाने की दिशा में बढ़ सकता है, जबकि मुद्रा का मूल्य बढ़ने पर यानी उसके ख़रीदने की क्षमता बढ़ने पर, यह मज़दूरों के हित में बढ़ सकता है। यह भी एक प्रकार से रूप और अन्तर्वस्तु का ही अन्तर है। मार्क्स याद दिलाते हैं कि जब भी मज़दूरी के उतार-चढ़ाव का विस्तृत अध्ययन करना होता है, तो इस कारक को भी ध्यान में रखना होता है।

इसके बाद मार्क्स मज़दूरी के दो प्रधान रूपों की चर्चा पर आते हैं: कालिक-मज़दूरी और पीस-रेट मज़दूरी।

कालिक-मज़दूरी (time-wages)

इन दो बातों को समझने के बाद हम मज़दूरी के सबसे प्रमुख रूपों पर चर्चा कर सकते हैं जो हैं कालिक मज़दूरी व पीस-रेट मज़दूरी के रूप। इसमें भी बुनियादी रूप कालिक मज़दूरी है, जो न सिर्फ पीस-रेट मज़दूरी के रूप को निर्धारित करने के आधार का काम करता है, बल्कि मज़दूरी के अन्य सभी रूपों का निर्धारण करने में आधारभूत भूमिका निभाता है। मार्क्स के समूचे वैज्ञानिक विश्लेषण में *समय* का तत्व एक बेहद अहम भूमिका निभाता है, चाहे वह मूल्य का निर्धारण हो, मुनाफ़े की दर का निर्धारण हो, या फिर टर्नओवर की अवधारणा।

हम जानते हैं कि मज़दूर मुद्रा के रूप में जो मज़दूरी प्राप्त करता है, वह दिहाड़ी, साप्ताहिक या मासिक सांकेतिक या नॉमिनल मज़दूरी होती है; यानी, मूल्य के रूप में आकलित मज़दूरी। लेकिन जैसे ही हम अपने विश्लेषण को आगे बढ़ाते हैं, वैसे ही यह स्पष्ट हो जाता है कि कार्यदिवस की लम्बाई के आधार पर, यानी वास्तव में दी गयी श्रम की मात्रा के आधार पर, वही नॉमिनल मज़दूरी, श्रम की बेहद अलग कीमतों की नुमाइन्दगी कर सकती हैं; दूसरे शब्दों में, कार्यदिवस की लम्बाई में आने वाले अन्तरों के आधार पर यह नॉमिनल मज़दूरी श्रम की समान मात्रा के लिए मुद्रा की अलग-अलग मात्राओं की नुमाइन्दगी कर सकती हैं। इसलिए जब भी हम कालिक-मज़दूरी का विश्लेषण करते हैं तो हमें दिहाड़ी, साप्ताहिक मज़दूरी या मासिक मज़दूरी की मात्रा और श्रम की क़ीमत के बीच अन्तर करना पड़ता है। तो इस श्रम की क़ीमत (price of labour) का आकलन कैसे कर सकते हैं? इसे एक उदाहरण से समझते हैं।

श्रम की औसत क़ीमत का निर्धारण श्रमशक्ति के एक दिन के औसत मूल्य और कार्यदिवस के घण्टों की संख्या से होता है। मिसाल के तौर पर, यदि एक दिन की श्रमशक्ति का औसत मूल्य रु. 200 है और एक औसत कार्यदिवस में घण्टों की संख्या 10 है, तो एक घण्टे के श्रम की औसत क़ीमत रु. 20 है। इस प्रकार से आकलित एक घण्टे की श्रम की क़ीमत उस इकाई माप का काम करती है, जो श्रम की औसत क़ीमत का आकलन करने में इस्तेमाल की जाती है।

इसका अर्थ यह होगा कि दिहाड़ी, साप्ताहिक मज़दूरी या मासिक मज़दूरी के समान रहने पर भी श्रम की क़ीमत बदल सकती है। मिसाल के तौर पर, अगर एक औसत कार्यदिवस की लम्बाई 8 घण्टे है और दिहाड़ी रु. 200 प्रतिदिन है, तो श्रम की क़ीमत रु. 25 होगी। लेकिन यदि कार्यदिवस की लम्बाई बढ़ाकर 10 घण्टे कर दी जाये, और दिहाड़ी रु. 200 ही रहती है, तो श्रम की क़ीमत घटकर रु. 20 हो जायेगी, हालाँकि दैनिक मज़दूरी में कोई अन्तर नहीं आयेगा। साथ ही, अगर श्रम की क़ीमत स्थिर रहती है, यानी अगर वह रु. 25 ही बनी रहती है, और यदि कार्यदिवस की लम्बाई 8 घण्टे से बढ़ाकर 10 घण्टे कर दी जाती है, तो दिहाड़ी, यानी दैनिक मज़दूरी बढ़कर रु.

(पेज 12 पर जारी)

मज़दूरी

(पेज 11 से आगे)

250 हो जायेगी। यही नतीजा तब भी सामने आयेगा जब श्रम की मात्रा व्यापक यानी समय की लम्बाई बढ़ाने से नहीं बढ़ती बल्कि श्रम की सघनता बढ़ाने से बढ़ती है। उदाहरण के लिए, इस्पात उद्योग में गरम रोला (hot-rolling machines) मज़दूरों को हर घण्टे के बाद मान लें पहले 1 घण्टे का विश्राम मिलता था, तो 12 घण्टे के कार्यदिवस में वास्तविक श्रम की मात्रा 6 घण्टे होगी। लेकिन यदि कार्यदिवस की लम्बाई समान ही रहती है और बीच में विराम का समय घटाकर आधा घण्टा कर दिया जाये, तो 12 घण्टे में ही मज़दूर 8 घण्टे का श्रम देता है। यानी श्रम की सघनता बढ़ गयी। ऐसे में, यदि श्रम की क़ीमत समान रहती है, तो दिहाड़ी भी बढ़ जायेगी। मार्क्स लिखते हैं :

> "नतीजा वही होगा (*दिहाड़ी का बढ़ना* – ले.) यदि श्रम की व्यापक मात्रा बढ़ायी जाती है या अगर श्रम की सघन मात्रा बढ़ायी जाती है।" (वही, पृ. 684)

यानी पूँजीपति दिहाड़ी, साप्ताहिक मज़दूरी या मासिक मज़दूरी को कम किये बिना श्रम की क़ीमत को घटा सकता है। यानी, यदि दैनिक, साप्ताहिक या मासिक श्रम की मात्रा समान रहती है, तो दैनिक, साप्ताहिक या मासिक मज़दूरी श्रम की क़ीमत पर निर्भर करती है और यह श्रम की क़ीमत केवल श्रमशक्ति के मूल्य या क़ीमत में आने वाले बदलावों या श्रमशक्ति के मूल्य व क़ीमत के बीच आने वाले अन्तरों के कारण घट या बढ़ सकती है। वहीं, अगर श्रम की क़ीमत स्थिर रहती है, तो दैनिक, साप्ताहिक या मासिक मज़दूरी दी गयी श्रम की मात्रा पर निर्भर करती है, जो कार्यदिवस की लम्बाई के घटने-बढ़ने (श्रम की व्यापक मात्रा – extensive magnitude of labour) या श्रम की सघनता के घटने-बढ़ने (श्रम की सघन मात्रा – intensive magnitude of labour) पर निर्भर करती है।

यदि श्रम की क़ीमत समान रहती है, तो मज़दूर के लिए कम-से-कम उतने घण्टे काम करना भौतिक रूप से अनिवार्य होता है, जितने में वह अपने श्रमशक्ति के मूल्य के बराबर मूल्य को पैदा करता है। मिसाल के तौर पर, अगर श्रमशक्ति का दैनिक मूल्य रु. 200 है, औसत कार्यदिवस की लम्बाई 10 घण्टे है, और 10 घण्टे का मूल्य उत्पाद, यानी 10 घण्टे में पैदा होने वाला मूल्य रु. 400 है, तो मज़दूर 5 घण्टे में अपने श्रमशक्ति के मूल्य के बराबर मूल्य का उत्पादन कर देता है। यहाँ पर श्रम की क़ीमत रु. 20 (रु. 200/10 घण्टे) है। अगर मज़दूर को 10 घण्टे के बजाय पूँजीपति केवल 8 घण्टे के लिए रखता है और श्रम की क़ीमत समान रहती है, तो उसकी दैनिक मज़दूरी रु. 200 से घटकर रु. 160 रह जाती है। हर घण्टे में से आधे घण्टे वह अपने लिए काम करता है और बाकी आधे घण्टे पूँजीपति के लिए। श्रम की क़ीमत समान रहने की स्थिति में मज़दूर को कम-से-कम 5 घण्टे का काम मिलना अनिवार्य है, अन्यथा वह अपनी श्रमशक्ति का स्वस्थ स्थिति में पुनरुत्पादन करने योग्य दिहाड़ी प्राप्त नहीं कर पायेगा। इसे हम सप्ताह या महीने के लिए रूपान्तरित कर यह भी बता सकते हैं कि एक अस्थायी दिहाड़ी मज़दूर को यदि 10 घण्टे का काम मिल भी रहा है, तो एक सप्ताह या एक महीने में उसे कम-से-कम कितना काम मिलना आवश्यक है, जिससे कि वह अपने जीविकोपार्जन योग्य मज़दूरी-उत्पाद ख़रीद पाये। मार्क्स यहाँ बताते हैं कि यह समझना तो निश्चय ही ज़रूरी है कि मज़दूर वर्ग का काम के कमरतोड़ बोझ से शोषण तो होता ही है, लेकिन यह समझना भी ज़रूरी है कि जहाँ कार्यदिवस की लम्बाई और न्यूनतम मज़दूरी जैसे विनियमनकारी कानून नहीं होते वहाँ काम कम मिलने ("शोषित होने का अधिकार न मिलने"!) के कारण भी मज़दूर का जीवन नर्क समान हो सकता है। मार्क्स की यह टिप्पणी आज के ठेकाकरण, अनौपचारिकीकरण और कैजुअलीकरण के दौर में और भी ज़्यादा प्रासंगिक हो जाती है:

> "पिछले अध्यायों में हमने काम के अतिआधिक्य के विनाशकारी नतीजों को देखा था; लेकिन यहाँ हमारा परिचय उन तकलीफ़ों के मूल से होता है, जो मज़दूरों को पर्याप्त रूप से काम पर न रखे जाने के कारण पैदा होती हैं।
>
> "अगर एक घण्टे की मज़दूरी इस प्रकार निर्धारित है कि पूँजीपति अपने आपको एक दिन या सप्ताह की मज़दूरी का भुगतान करने से नहीं बाँधता है, बल्कि केवल उन घण्टों की मज़दूरी देने से बाँधता है, जिन घण्टों के लिए वह उसे काम पर रखता है, तो वह उसे उस अवधि से भी कम समय के लिए काम पर रख सकता है, जो कि एक घण्टे की मज़दूरी के आकलन का मूल आधार थी, या जो श्रम की क़ीमत की ईकाई माप के निर्धारण का आधार थी। चूँकि यह ईकाई श्रमशक्ति के दैनिक मूल्य और एक कार्यदिवस के घण्टों की पूर्वप्रदत्त संख्या के अनुपात से तय होती है, तो स्वाभाविक तौर पर, जैसे ही कार्यदिवस काम के घण्टों की एक निर्धारित संख्या का नहीं रह जाता, वैसे ही यह अपना समस्त अर्थ खो बैठती है। भुगतान किये गये और मुफ़्त में दिये गये श्रम के बीच का सम्बन्ध नष्ट हो जाता है। अब पूँजीपति मज़दूर से बेशी श्रम की एक निश्चित मात्रा निचोड़ सकता है, वह भी उसे उतने श्रमकाल तक काम करने की आज्ञा दिये बग़ैर जो कि मज़दूर की आजीविका के लिए आवश्यक है। *वह रोज़गार की समस्त नियमितता को समाप्त कर सकता है, और अपनी सुविधा, सनक, और तात्कालिक हित के अनुसार, बारी-बारी से कभी काम के सबसे भयंकर कमरतोड़ अति-आधिक्य को थोप सकता है, तो कभी काम को सापेक्षिक या निरपेक्ष रूप से रोकने देने के नतीजों को थोप सकता है। वह 'श्रम की सामान्य क़ीमत' देने के बहाने मज़दूर को उपयुक्त मुआवज़ा दिये बग़ैर असामान्य रूप से कार्यदिवस की लम्बाई को बढ़ा सकता है।* यही वजह है कि 1860 में लन्दन के निर्माण मज़दूरों द्वारा किया गया विद्रोह पूर्णत: न्यायसंगत था जो कि घण्टे के आधार पर दी जाने वाली मज़दूरी की व्यवस्था को पूँजीपतियों द्वारा उन पर थोपे जाने के प्रयास के ख़िलाफ़ किया गया था। कार्यदिवस की कानूनी सीमा का स्थापित होना इस प्रकार की दुष्टतापूर्ण हरकतों पर तो रोक लगा देता है, हालाँकि यह मशीनों द्वारा प्रतिस्पर्द्धा, काम पर लिये गये मज़दूरों की गुणवत्ता में परिवर्तन और आंशिक या सामान्य संकटों के कारण रोज़गार में आने वाली कमी को निश्चय ही ख़त्म नहीं करता है।" (*वही,* पृ. 686, *ज़ोर हमारा)*

आज की स्थिति काफ़ी हद तक इसी प्रकार हो चुकी है, जिसकी मार्क्स ने भविष्यवाणी आज से डेढ़ सौ साल से भी पहले कर दी थी। मज़दूर वर्ग ने अपनी जुझारू लड़ाइयों के ज़रिये पूँजीपति वर्ग और उसकी राज्यसत्ता को 8 घण्टे के कार्यदिवस व न्यूनतम मज़दूरी को कानूनी तौर पर निर्धारित करने के लिए बाध्य किया था। आज भी ये श्रम कानून कागज़ों पर तो मौजूद हैं, लेकिन 94 प्रतिशत अनौपचारिक क्षेत्र के मज़दूरों के लिए उनका कोई अर्थ नहीं है। नतीजतन, एक तरफ़ वे कमर तोड़ देने वाले काम की अति से बरबाद हैं, तो वहीं वे पर्याप्त काम न मिलने के कारण, यानी "शोषण करवाने का पर्याप्त अधिकार न मिलने" के कारण भी भूख, ग़रीबी और असुरक्षा के शिकार हैं। और जैसा कि मार्क्स ने बताया था, पूँजीपति हर प्रकार की दुष्टतापूर्ण तरक़ीबों के ज़रिये मज़दूरों का इन दोनों तरीकों से ही शोषण कर रहे हैं।

साथ ही, यह भी सम्भव है कि श्रम की क़ीमत सांकेतिक तौर पर (nominally) समान रहे, कार्यदिवस की लम्बाई बढ़े और इसके कारण दिहाड़ी, साप्ताहिक मज़दूरी या मासिक मज़दूरी बढ़ जाये। लेकिन इस सूरत में भी मज़दूर के लिए श्रम की वास्तविक क़ीमत घटती है। आप पूछेंगे कि ऐसा कैसे हो सकता है? ऐसा इसलिए होता है क्योंकि जब भी कार्यदिवस की लम्बाई असामान्य रूप से बढ़ायी जाती है, तो श्रमशक्ति का भी ज़्यादा व्यय और नाश होता है; नतीजतन, उसके पुनरुत्पादन की लागत बढ़ती है और इस प्रकार श्रमशक्ति का मूल्य भी *वास्तविक तौर पर* बढ़ जाता है। मार्क्स बताते हैं कि वास्तव में यदि कार्यदिवस की लम्बाई को सामान्य सीमा से ज़्यादा बढ़ाया जाता है, तो इस वृद्धि के अनुपात में श्रमशक्ति का मूल्य अधिक तेज़ी से बढ़ता है क्योंकि सामान्य कार्यदिवस के ऊपर होने वाली हर बढ़ोत्तरी मज़दूर की क्षमता, स्वास्थ्य और शक्ति को सामान्य कार्यदिवस के घण्टों से कहीं ज़्यादा गति से नष्ट करती है। नतीजतन, सामान्य कार्यदिवस का एक घण्टा श्रमशक्ति नामक माल का जिस गति से उपभोग करता है, उसके ऊपर होने वाले ओवरटाइम का हरेक घण्टा श्रमशक्ति का उससे कहीं तेज़ गति से उपभोग करता है। उन्नीसवीं सदी में ही यह बात वैज्ञानिक तौर पर सिद्ध हो चुकी थी और सार्वजनिक तौर पर स्वीकारी जा चुकी थी और इसीलिए सामान्य से अधिक रेट से ओवरटाइम के भुगतान के कानून तमाम देशों में बने थे। हमारे देश में भी डबल रेट से ओवरटाइम के भुगतान का कानून कागज़ी तौर पर दशकों से मौजूद है। लेकिन संगठित व औपचारिक क्षेत्र के 6-7 प्रतिशत मज़दूरों के अलावा, यह अधिकार किसी मज़दूर को नहीं मिलता है। नतीजतन, यदि श्रम की सांकेतिक क़ीमत तय रहे और कार्यदिवस की लम्बाई बढ़ने पर दिहाड़ी, साप्ताहिक मज़दूरी या मासिक मज़दूरी बढ़ भी जाये, तो वास्तव में श्रम की क़ीमत घट जाती है, क्योंकि श्रमशक्ति का वास्तविक मूल्य इस ओवरटाइम के साथ काम के घण्टों के बढ़ने से ज़्यादा तेज़ दर से बढ़ता है, लेकिन उसकी नॉमिनल क़ीमत समान ही रह जाती है। आम तौर पर यह होता है कि मज़दूरों को ओवरटाइम करना ही पड़ता है क्योंकि श्रम की क़ीमत कम होने के कारण अगर वे ओवरटाइम न करें तो आजीविका प्राप्त करने योग्य मज़दूरी कमा ही नहीं सकते। इस बात को भी मार्क्स ने उन्नीसवीं सदी के मध्य में ही समझ लिया था :

> "जब विभिन्न ब्रिटिश उद्योगों में कार्यदिवस को किसी निश्चित सामान्य सीमा के ऊपर बढ़ाया जाता है और श्रम की क़ीमत में बढ़ोत्तरी होती भी है, तो वह इस प्रकार होती है कि तथाकथित सामान्य समय के दौरान श्रम की क़ीमत इतनी कम होती है कि अगर मज़दूर पर्याप्त मज़दूरी चाहता है तो उसे बेहतर दर से भुगतान वाले ओवरटाइम को करने के लिए मजबूर होना पड़ता है।" (*वही,* पृ. 687)

ऊपर श्रम की क़ीमत के निर्धारण के नियमों के आधार पर एक दूसरा नतीजा भी निकलता है, जिसे हम आज के समाज में स्पष्ट तौर पर देख सकते हैं। चूँकि श्रम की क़ीमत निर्धारित होने पर मज़दूरी दिये गये श्रम की मात्रा (व्यापक या सघन) पर निर्भर करती है, इसलिए श्रम की क़ीमत जितनी कम होती है, मज़दूर को आजीविका योग्य मज़दूरी प्राप्त करने के लिए उतना ही ज़्यादा काम करना पड़ता है। मार्क्स कहते हैं, "यहाँ पर श्रम की कम क़ीमत श्रमकाल को बढ़ाने के लिए एक प्रेरक तत्व का काम करती है।" (वही, पृ. 688) लेकिन इसीका एक अन्य उपजात यह होता है कि कार्यदिवस जितना लम्बा होता है, श्रम की क़ीमत भी उतनी गिरती है, हालाँकि सांकेतिक तौर पर दिहाड़ी, साप्ताहिक मज़दूरी या मासिक मज़दूरी निरपेक्ष तौर पर बढ़ सकती है। हमने ऊपर देखा कि किस प्रकार कार्यदिवस के सामान्य सीमा से बढ़ने पर यदि मज़दूरी बढ़े तो भी श्रम की क़ीमत घट जाती है।

अब पूँजीपति वर्ग की इन तरक़ीबों के आख़िरी नतीजे पर आते हैं। हमने देखा कि किस तरह से कार्यदिवस की लम्बाई को सामान्य सीमा से आगे बढ़ाने पर वास्तव में श्रम की क़ीमत में गिरावट आती है, हालाँकि कुल सांकेतिक दिहाड़ी, साप्ताहिक या मासिक मज़दूरी बढ़ती दिख सकती है। लेकिन इसी क़दम के फलस्वरूप एक और वजह से भी श्रम की क़ीमत में गिरावट आती है। जब कार्यदिवस की लम्बाई आम तौर पर असामान्य तौर पर बढ़ती है, तो एक ही मज़दूर वास्तव में 1.2 या 1.5 मज़दूरों के बराबर काम करता है। नतीजा यह होता है कि श्रमशक्ति के बाज़ार में श्रम की आपूर्ति श्रम की माँग के सापेक्ष बढ़ जाती है और बेरोज़गारी बढ़ती है। नतीजा यह होता है कि पूँजीवाद मज़दूरों पर भी एक बढ़ी हुई आपसी प्रतिस्पर्द्धा को थोप देता है। इस प्रतिस्पर्द्धा के कारण श्रमशक्ति का मूल्य तो समान ही रहता है, लेकिन उसकी क़ीमत उसके मूल्य से नीचे गिर जाती है क्योंकि माँग और आपूर्ति की स्थितियाँ मज़दूरों के हितों के प्रतिकूल बदल जाती हैं। जब पूँजीपति मज़दूरों से कमरतोड़ काम करवाकर, कार्यदिवस को असमान्य रूप से बढ़ाकर श्रम की क़ीमत, श्रमशक्ति की क़ीमत और इस प्रकार समूची मज़दूरी को ही घटाते हैं, तो इस कुकर्म को सबसे अच्छी तरीके से करने के लिए स्वयं उनके बीच भी एक प्रतिस्पर्द्धा होती है। ऐसे में, जो ऐसा करने में पीछे छूटते हैं, वे मज़दूर वर्ग का शोषण करने के अधिकार और अवसरों के बराबरी की माँग पूँजीवादी राज्यसत्ता से करते हैं। जो पूँजीपति इस होड़ में पीछे छूटते हैं, कई बार वे उन पूँजीपतियों पर "मानवता की ख़ातिर" (!) पूँजीवादी राज्यसत्ता द्वारा लगाम कसने और कार्यदिवस की लम्बाई व न्यूनतम मज़दूरी तय करने की माँग करते हैं! वे कहते हैं कि ऐसे "लुटेरे पूँजीपति" श्रम का अतिशोषण कर मुनाफ़ा कमा रहे हैं, अपने मालों की क़ीमत को असामान्य रूप से नीचे रख रहे हैं और एक अन्यायपूर्ण प्रतिस्पर्द्धा बाकी "मानवीय पूँजीपतियों" पर थोप दे रहे हैं! इन "मानवीय पूँजीपतियों" को लगता है कि यदि वे मज़दूरों से केवल कानूनी कार्यदिवस यानी 8 घण्टे ही काम करवाते हैं, तो उसमें शोषण नहीं

(पेज 13 पर जारी)

मज़दूरी

(पेज 12 से आगे)

निहित होता और उनके मुनाफ़े का स्रोत धन्धे की उनकी बेहतर समझदारी, चालाकी और सूझ-बूझ है, जिसके कारण वे सस्ता ख़रीदकर महँगा बेच पाते हैं! मार्क्स ऐसे पूँजीपतियों के रुदन पर टीका करते हुए लिखते हैं:

"(पूँजीपतियों का) यह विलाप इसलिए भी दिलचस्प है क्योंकि यह दिखलाता है कि पूँजीपति के दिमाग के द्वारा उत्पादन के सम्बन्धों का छद्म आभास ही प्रतिबिम्बित होता है। वह नहीं जानता है कि श्रम की सामान्य क़ीमत में भी मुफ़्त में दिये गये श्रम की एक निश्चित मात्रा है और यह कि ठीक यही मुफ़्त में दिया गया श्रम ही उसके सामान्य मुनाफ़ों का स्रोत है। उसके लिए बेशी श्रमकाल की श्रेणी का कोई अस्तित्व ही नहीं होता है, क्योंकि यह कार्यदिवस में शामिल होता है, जिसके बारे में उसे ऐसा लगता है कि उसने दिहाड़ी के रूप में उसकी एवज़ में पूरा भुगतान कर दिया है। लेकिन ओवरटाइम का, यानी श्रम की सामान्य क़ीमत के आधार का काम करने वाले कार्यदिवस की सीमा के ऊपर कार्यदिवस को बढ़ाये जाने का, निश्चित तौर पर उसके लिए अस्तित्व होता है। जब वह अपने से सस्ता बेचने वाले अपने प्रतिस्पर्द्धी के सामने पड़ता है, तब तो वह इस ओवरटाइम के लिए अतिरिक्त वेतन के भुगतान पर भी ज़ोर देने लग जाता है। एक बार फिर, वह नहीं जानता कि इस अतिरिक्त भुगतान में मुफ़्त में दिया गया श्रम भी शामिल है, ठीक उसी प्रकार जैसे कि श्रम के किसी भी सामान्य घण्टे की क़ीमत में वह शामिल होता है।" (*वही*, पृ. 690-91)

पीस-रेट मज़दूरी

पीस-रेट मज़दूरी वास्तव में कालिक-मज़दूरी का ही एक रूपान्तरित संस्करण होता है। इसमें मज़दूर को प्रत्यक्ष रूप में दिये गये श्रमकाल के अनुसार मज़दूरी नहीं दी जाती, बल्कि एक दिये गये कार्यदिवस में पैदा किये गये उत्पाद की मात्रा के आधार पर मज़दूरी दी जाती है। इससे श्रमकाल के साथ मज़दूरी का रिश्ता छिप जाता है। लेकिन मार्क्स ने दिखाया कि यह रिश्ता ख़त्म नहीं होता है, केवल छिपता है। मार्क्स लिखते हैं:

"पीस-रेट मज़दूरी और कुछ नहीं बल्कि कालिक-मज़दूरी का ही एक परिवर्तित रूप है, ठीक वैसे ही जैसे कालिक-मज़दूरी और कुछ नहीं बल्कि श्रमशक्ति के मूल्य या उसकी क़ीमत का एक परिवर्तित रूप है।" (*वही*, पृ. 692)

पीस-रेट मज़दूरी में यह प्रतीत होता है कि मज़दूर की श्रमशक्ति को नहीं ख़रीदा गया है, जो उत्पादन के दौरान जीवित श्रम देती है। उल्टे यह लगता है कि मज़दूर से उत्पादित माल को ख़रीदा जा रहा है, जिसमें कि उसका श्रम वस्तु-रूप ग्रहण कर चुका है, या कहें, कि वस्तुकृत हो चुका है। नतीजतन, यह भ्रम पैदा होता है कि श्रम की क़ीमत कालिक-मज़दूरी के समान श्रमशक्ति के मूल्य और कार्यदिवस की लम्बाई के अनुपात से नहीं निर्धारित हो रही है, बल्कि उत्पादक की काम करने की क्षमता से निर्धारित हो रही है। लेकिन वास्तव में ऐसा नहीं होता है।

मार्क्स उदाहरणों के साथ बताते हैं कि पहली बात तो यह है कि दोनों प्रकार के मज़दूरी के रूप न सिर्फ़ एक देश या अर्थव्यवस्था के भीतर बल्कि एक ही उद्योग के बीच में एक साथ अस्तित्वमान होते हैं। ऐसे ही उदारहण भारत के सन्दर्भ में दिये जा सकते हैं। दूसरी बात मार्क्स यह बताते हैं कि इन दो रूपों में एक प्रतीतिगत यथार्थ, यानी जो दिखता है, के स्तर पर ही अन्तर है और दोनों की सारवस्तु समान है। यह ज़रूर है कि पीस-रेट मज़दूरी पूँजीपति वर्ग और उसके मुनाफ़े की बढ़ोत्तरी के लिए अक्सर एक ज़्यादा बेहतर रूप होता है क्योंकि यह पूँजीपतियों को तमाम प्रकार की जालसाज़ी और चार सौ बीसी कर मज़दूरों के शोषण की दर को बढ़ाने का मौका देता है और अपनी कई लागतों को कम करने का मौका देता है। जब हम इस रूप को थोड़ा गहराई से समझते हैं तो यह बात साफ़ हो जाती है।

मान लें, एक सामान्य कार्यदिवस में 8 घण्टे हैं। इसमें से 4 घण्टे आवश्यक श्रमकाल है और 4 घण्टे अतिरिक्त श्रमकाल है। मान लें कि 8 घण्टे में पैदा होने वाले कुल उत्पाद का मूल्य (उत्पादन के साधनों के उत्पादित माल में स्थानान्तरित हो रहे मूल्य को छोड़कर) रु. 80 है, यानी कि 8 घण्टे के औसत सामाजिक श्रम से पैदा होने वाले नये मूल्य का मौद्रिक समतुल्य रु. 80 है। दूसरे शब्दों में 1 घण्टे के औसत सामाजिक श्रम द्वारा रु. 10 के बराबर नया मूल्य पैदा होता है। मान लें कि एक मज़दूर औसत सामाजिक उत्पादकता, श्रम सघनता और कुशलता के साथ काम करता है और वह किसी उत्पाद के उत्पादन में उतना ही श्रम दे रहा है, जितना कि औसत सामाजिक उत्पादकता के अनुसार ज़रूरी है। यह कल्पना करके चलना बिल्कुल तार्किक है क्योंकि जो मज़दूर इस औसत सामाजिक उत्पादकता से काफ़ी नीचे काम करेगा, पीस-रेट मज़दूरी की व्यवस्था में या तो उसे इतनी कम मज़दूरी हासिल हो पायेगी कि वह अपनी आजीविका ही नहीं कमा पायेगा या फिर उसे काम मिलना ही मुश्किल होगा। मान लें कि 8 घण्टे के कार्यदिवस में वह मज़दूर जिस भी उत्पाद को बना रहा है, उसके 16 पीस बनाता है। ये 16 पीस एक ही बड़े उत्पाद के अलग-अलग हिस्से हो सकते हैं या सर्वथा अलग-अलग उत्पाद हो सकते हैं। इससे हमारे विश्लेषण पर कोई फ़र्क नहीं पड़ता है। नतीजतन, 8 घण्टे में बनने वाले इन 16 पीसों का कुल मूल्य रु. 80 होगा और एक पीस का मूल्य रु. 5 होगा। इसमें से मज़दूर को एक पीस का रु. 2.50 मिलेगा और तरह 16 पीसों के बदले रु. 40 पीस-रेट मज़दूरी के रूप में मिलेंगे। हम यह कहें कि मज़दूर द्वारा उत्पादित 16 पीसों में से 8 पीस में मज़दूर की श्रमशक्ति का मूल्य निहित है और बाकी 8 पीस में पूँजीपति का बेशी मूल्य, या हम कहें कि मज़दूर अपने काम के हर घण्टे में आधे घण्टे अपने लिए काम करता है, जिसके लिए उसे भुगतान होता है और बाकी आधे घण्टे वह पूँजीपति के लिए काम करता है, जिसके लिए उसे भुगतान नहीं होता, या हम यह कहें कि मज़दूर 4 घण्टे अपने लिए काम करता है और 4 घण्टे पूँजीपति के लिए। इससे कोई फ़र्क नहीं पड़ता है। ये समान बातें हैं। मार्क्स कहते हैं:

"इसलिए यहाँ प्रश्न हर पीस के मूल्य को उसमें लगे श्रमकाल से मापने का प्रश्न नहीं है। बल्कि यहाँ यह उल्टा है: मज़दूर द्वारा ख़र्च किये गये श्रम को उसके द्वारा उत्पादित पीसों की संख्या से मापना होगा। कालिक-मज़दूरी में श्रम को *उसकी तात्कालिक अवधि* द्वारा मापा जाता है, पीस-रेट मज़दूरी में उन उत्पादों की मात्रा से मापा जाता है, जिसमें कि *एक दिये गये समय में* उस श्रम मूर्त रूप ग्रहण करता है। श्रमकाल की क़ीमत अन्ततः स्वयं इसी समीकरण से निर्धारित होती है: एक दिन के श्रम का मूल्य = श्रमशक्ति का दैनिक मूल्य। इसलिए पीस-रेट मज़दूरी कालिक मज़दूरी का एक संशोधित रूप ही है।" (*वही*, पृ. 694, *ज़ोर हमारा*)

यानी, पीस-रेट पर होने वाले काम की मज़दूरी वास्तव में कालिक-मज़दूरी का ही एक रूपान्तरित संस्करण होती है क्योंकि दी गयी औसत सामाजिक उत्पादकता के आधार पर हम किसी भी उद्योग में 1 घण्टे के श्रम के मूल्य-उत्पाद का आकलन कर सकते हैं। हम जीवित श्रम को श्रमकाल में मापने की बजाय यहाँ उसके माल में वस्तुकृत होने के बाद उत्पाद की मात्रा के रूप में उसका आकलन कर रहे हैं। उपरोक्त उद्धरण में इटैलिक किये गये शब्दों "तात्कालिक अवधि" और "दिये गये समय में" पर ग़ौर करें। पीस-रेट का आकलन सामाजिक तौर पर औसत कार्यदिवस, औसत उत्पादकता, औसत श्रम सघनता के आधार पर ही होता है। लेकिन यह रूप ऐसा है जो पूँजीपतियों को मज़दूरों का शोषण बढ़ाने और धोखाधड़ी करने की इजाज़त देता है। इस रूप में श्रम की गुणवत्ता स्वयं काम के द्वारा नियन्त्रित होती है और इसे कम-से-कम एक सामाजिक औसत गुणवत्ता का होना चाहिए। वरना पीस-रेट की पूरी मज़दूरी मज़दूर को नहीं मिलती। इसी ख़ासियत के कारण पूँजीपति मज़दूरी में तरह-तरह से कटौती करता है व अन्य धोखाधड़ियाँ करता है।

वजह यह है कि पीस-रेट की मज़दूरी एक निश्चित स्तर की श्रम सघनता, उत्पादकता और कुशलता को अनिवार्य बनाती है। इस औसत श्रम सघनता, उत्पादकता और कुशलता के साथ उत्पादित उत्पादों की मात्रा में लगे श्रम को ही सामाजिक रूप से आवश्यक श्रम की मान्यता मिलती है। बाज़ार की प्रतिस्पर्द्धा का अनुभव इस बात को सुनिश्चित करता है। मार्क्स बताते हैं कि यही वजह है कि लन्दन के कुछ टेलरिंग केन्द्रों पर एक विशिष्ट उत्पाद के उत्पादन, मसलन, एक वेस्टकोट के उत्पादन यानी उसकी सिलाई को 'एक घण्टा' कहा जाता है और उस एक घण्टे के लिए सामाजिक औसत के अनुसार मज़दूरी मिलती है। ऐसे उदाहरण हमारे देश से भी दिये जा सकते हैं जिसमें पीस-रेट औसत उत्पादकता और औसत कार्यदिवस के आधार पर ही तय की जाती है। निश्चित तौर पर, यह तय करने की प्रक्रिया में शुरुआत में और उत्पादकता में होने वाली किसी बढ़ोत्तरी या उत्पादन की स्थितियों में आने वाले किसी सामान्य परिवर्तन की सूरत में उसके संशोधन की स्थिति में मज़दूरों और पूँजीपतियों में हमेशा ही एक संघर्ष होता है और उसके तय होने तक यह संघर्ष जारी रहता है। जो मज़दूर इस औसत सामाजिक उत्पादकता, श्रम सघनता और कुशलता के स्तर से विचारणीय रूप से नीचे स्तर पर काम करता है, वह आम तौर पर निकाल दिया जाता है या वह इतनी मज़दूरी ही नहीं कमा पाता कि उस उद्योग में टिक पाये।

मार्क्स बताते हैं कि चूँकि पीस-रेट वाले काम में श्रम की सघनता, कुशलता आदि का निर्धारण मज़दूरी के इस रूप से ही हो जाता है, इसलिए पूँजीपति को अब किसी देखरेख करने वाले मज़दूर की आवश्यकता नहीं रह जाती, किसी सुपरवाइज़र या ओवरसीयर की आवश्यकता नहीं रह जाती क्योंकि मज़दूर अधिक से अधिक पीस बनाने के चक्कर स्वयं यह सुनिश्चित करता है कि वह अधिकतम सम्भव काम करे। इसके अलावा, यह व्यवस्था ठेकेदारों और जॉबरों के तन्त्र को भी पैदा करती है। कहीं-कहीं पर जॉबर की भूमिका में स्वयं एक अधिक अनुभवी या कुशल मज़दूर ही होता है जो मज़दूरों के एक समूह को अपने मातहत रखता है और एक प्रकार से काम का ठेका किसी पूँजीपति या बड़े ठेकेदार से लेता है। चूँकि वह मज़दूरी के अतिरिक्त कमीशन के तौर पर अन्य मज़दूरों की पीस-रेट मज़दूरी से कुछ कटौती भी करता है, इसलिए यह मज़दूरी-रूप एक मज़दूर और दूसरे मज़दूर के बीच भी अन्तरविरोध को जन्म देता है। मार्क्स कहते हैं: "यहाँ मज़दूर का पूँजी द्वारा शोषण एक मज़दूर द्वारा दूसरे मज़दूर के शोषण के ज़रिये घटित होता है।" (*वही*, पृ. 695) इसके अलावा, ऐसे बिचौलिये ठेकेदार भी होते हैं, जो पूरी तरह से परजीवी होते हैं और स्वयं श्रम की प्रक्रिया से उनका कोई लेना-देना ही नहीं होता है। पीस-रेट मज़दूरी इन दोनों ही रूपों को जन्म देती है।

जैसा कि हम समझ सकते हैं, पीस-रेट मज़दूरी की व्यवस्था में अधिक से अधिक कमाने के भ्रम में मज़दूर स्वयं ही अपनी श्रम सघनता को बढ़ाता है और स्वयं कार्यदिवस के घण्टों को बढ़ाये जाने की भी हिमायत करता है या अगर वह आधुनिक घरेलू उद्योग में है, तो ख़ुद ही इसे बढ़ाता है। लेकिन श्रम की सघनता और कार्यदिवस की लम्बाई बढ़ने के कारण ठीक उन्हीं कारणों के चलते पीस-रेट मज़दूरी की व्यवस्था में भी श्रम की क़ीमत घटती है, जिनके कारण वह कालिक-मज़दूरी में घटती है, जैसा कि हमने पिछले उपशीर्षक में देख चुके हैं। यदि पीस-रेट समान भी बना रहे तो श्रम सघनता व कार्यदिवस की लम्बाई बढ़ने पर श्रम की क़ीमत घटती है। पीस-रेट की व्यवस्था में बस फ़र्क यह होता है कि ये काम अक्सर पूँजीपति को नहीं करने पड़ते बल्कि स्वयं मज़दूर ही करता है।

पीस-रेट की व्यवस्था में एक अन्य फ़ायदा पूँजीपतियों को मिलता है। कालिक-मज़दूरी की व्यवस्था में अगर एक कारखाने में काम करने वाले दो मज़दूरों की कुशलता व उत्पादकता में विचारणीय अन्तर हो, तो भी अपवादों को छोड़ दें, तो उन्हें समान कार्य के लिए समान मज़दूरी मिलती है। लेकिन पीस-रेट की व्यवस्था में चूँकि उत्पाद की मात्रा में वस्तुकृत श्रम की मात्रा के आधार पर मज़दूरी मिलती है इसलिए जो मज़दूर माल की जितनी मात्रा का उत्पादन करता है, उसे उतनी मज़दूरी मिलती है। मार्क्स बताते हैं कि इससे पूँजी और उजरती श्रम के बीच के सामान्य सम्बन्ध पर कोई अन्तर नहीं पड़ता है; कुछ मज़दूर औसत उत्पादकता से कुछ नीचे होते हैं, कुछ औसत उत्पादकता पर तो कुछ औसत से कुछ ऊपर उत्पादकता पर। समूचे वर्कशॉप या उद्योग के स्तर पर ये अन्तर एक-दूसरे को ख़ारिज कर देते हैं। साथ ही, उत्पाद की हरेक ईकाई में मज़दूरी और बेशी मूल्य के अनुपात पर इससे कोई फ़र्क नहीं पड़ता है। लेकिन यह ज़रूर है कि यह मज़दूरों के बीच आपसी प्रतिस्पर्द्धा को भी बढ़ाता है, जिसका नतीजा होता है औसत मज़दूरी का कम होना। इसका दूसरा पहलू यह है कि जहाँ पर पीस-रेट मज़दूरी लम्बे समय से किसी स्तर पर निर्धारित हो चुकी होती है, वहाँ पर उत्पादकता बढ़ने और माल की प्रति ईकाई क़ीमत गिरने पर भी पूँजीपतियों को पीस-रेट को कम करने के लिए काफ़ी संघर्ष करना पड़ता है। जहाँ कहीं पूँजीपति ऐसा करने में सफल नहीं हो पाते हैं वहाँ वे अक्सर कालिक-मज़दूरी की व्यवस्था को अपनाने का प्रयास करते हैं।

कुल मिलाकर, पीस-रेट मज़दूरी की व्यवस्था पूँजीपतियों को हमेशा ज़्यादा

(पेज 14 पर जारी)

कश्मीर के भारतीय औपनिवेशिक क़ब्ज़े पर सुप्रीम कोर्ट की मुहर

केशव

पिछली 11 दिसम्बर को सुप्रीम कोर्ट ने अपने फ़ैसले में धारा 370 और 35ए, जो कि कश्मीर को एक विशेष राज्य का दर्जा देता था और कश्मीर को एक राष्ट्र के तौर पर स्वायत्तता देता था, को मोदी सरकार द्वारा ख़त्म करने को सही ठहराया है। सुप्रीम कोर्ट के इस फ़ैसले के साथ ही जहाँ एक तरफ़ भारतीय न्यायपालिका का "न्याय" उजागर हुआ है, वहीं दूसरी तरफ़ कश्मीरी क़ौम पर भारतीय राज्यसत्ता का दमन भी एक बार फिर से साबित हुआ है। फ़ासीवादी मोदी सरकार द्वारा धारा 370 और 35ए के ख़त्म किये जाने के बाद कश्मीर के दमन को, जो कि आज़ादी के बाद से भारतीय राज्यसत्ता द्वारा जारी है, संवैधानिक रूप से वैध बनाने का काम किया गया। ज़ाहिरा तौर पर इसके बाद भारतीय राज्यसत्ता द्वारा सैन्यबल का प्रयोग कर कश्मीर में किसी बड़े जनप्रतिरोध को उभरने से पहले ही दबा दिया गया। यूएपीए और अफ़स्पा जैसे काले क़ानूनों का इस्तेमाल कर मोदी सरकार ने कश्मीरी क़ौम के प्रतिरोध को कुचलने के भरसक प्रयास किया है।

आज़ादी के बाद पिछले 76 सालों में भारतीय राज्यसत्ता ने कश्मीर के साथ विश्वासघात करने का ही काम किया है। 1953 में शेख अब्दुल्ला सरकार को असंवैधानिक तरीके से बरख़ास्त कर जेल में डालने, वज़ीर-आज़म के पद को सामान्य मुख्यमंत्री पद में तब्दील करने, फर्ज़ी चुनाव करवाने से लेकर कश्मीरी राष्ट्र की स्वायत्तता एक-एक कर छीनने तक भारतीय शासक वर्ग ने क़दम-क़दम पर कश्मीरी अवाम के साथ विश्वासघात और वादाख़िलाफ़ी करने का काम किया है। इतना ही नहीं भारतीय शासक वर्ग ने इस विश्वासघात का प्रतिरोध करने पर कश्मीरी जनता को सेना की बन्दूकों के दम पर बूटों के नीचे रौंदा है। यह अनायास ही नहीं है कि जिस जनता ने 1948 में श्रीनगर के लाल चौक पर भारतीय सेना का फूल बरसाकर स्वागत किया था, आज वही जनता भारतीय सेना से नफ़रत करती है। इसकी वजह यही है कि पिछले चालीस सालों से भी अधिक समय से कश्मीरी लोग अपने ही घर में चौबीसों घण्टे डर के साये में जी रहे हैं। उनके शहरों को छावनी में तब्दील कर दिया गया है। क़दम-क़दम पर तलाशी और जाँच से गुज़रना, कभी भी सेना द्वारा डिटेन कर लिया जाना, किसी को भी शक के आधार पर जेल में डाल देना, किसी को भी हमेशा के लिए ग़ायब कर देना कश्मीरियों के लिए रोज़मर्रा की बात हो गयी है। ऐसे में कश्मीरी क़ौम क्यों अपने हक़ की आवाज़ नहीं उठाएगी? क्यों सैन्य दमन के ख़िलाफ़ वह हथियारबन्द नहीं होगी?

आज फ़ासीवादी मोदी सरकार कश्मीरी क़ौम के संघर्ष को साम्प्रदायिक रंग देकर नफ़रत की राजनीति कर रही है। ग़ौरतलब है कि 2014 में मोदी के उभार के दौरान भाजपा ने अवाम के बीच साम्प्रदायिक ज़हर घोलने का एजेण्डे लेकर तीन "बड़े" वायदे किये थे। पहला राम मन्दिर का निर्माण, दूसरा धारा 370 को हटाकर कश्मीर के दमन को संवैधानिक चोगा पहनाना और तीसरा समान नागरिक संहिता लागू करना। इसमें से पहले दो वायदों को इस सरकार ने सत्ता की ताक़त के ज़रिए लागू करवा दिया और तीसरे वायदे को लेकर यह राज्यस्तरीय चुनाव में वोट माँग रही थी। "अच्छे दिन" का जुमला उछालकर सत्ता में आयी भाजपा के राज में जब महँगाई, बेरोज़गारी और भ्रष्टाचार के सारे रिकॉर्ड टूट गये और जनता बदहाली और बेहाली के कगार पर आकर खड़ी हो गयी, तब इन्होंने एक बार फिर अवाम के ग़ुस्से को साम्प्रदायिक रंग देकर अवाम के ही ख़िलाफ़ खड़ा दिया।

आगामी 2024 के चुनाव से ठीक पहले सर्वोच्च न्यायालय का यह फ़ैसला एक तरफ़ मोदी सरकार की फ़ासीवादी रणनीति का एक मुकाम पर पहुँचना दिखाता है तो वहीं दूसरी तरफ़ न्यायपालिका के फ़ासीवादीकरण को भी स्पष्ट रूप से पुष्ट करने का काम करता है। सर्वोच्च न्यायालय समेत देश के तमाम न्यायालयों के हालिया फ़ैसलों पर निगाह डालें तो यह आसानी से समझा जा सकता है कि किस प्रकार हमारे देश के न्यायालय आज पूरी तरह से संघ की गोद में जाकर बैठ चुके हैं। हाल में ही सुप्रीम कोर्ट का राम मन्दिर पर फ़ैसला इसका बड़ा उदाहरण है। साथ ही इस दौरान स्थानीय न्यायालयों ने तो कई बार संघ के प्रति अपनी वफ़ादारी को जगजाहिर किया है। लखनऊ के सीबीआई स्पेशल कोर्ट ने क़रीब एक वर्ष पहले बाबरी मस्जिद के विध्वंस मामले में नामजद सभी 32 जीवित आरोपियों को दोषमुक्त कर मुक़दमे से बरी कर दिया। वर्ष 2018 में गुजरात हाई कोर्ट ने गुजरात दंगों में हुई बर्बरता की एक दोषी माया कोडनानी को रिहा कर दिया। इतना ही नहीं इन्हीं न्यायालयों ने "न्याय" के नाम पर यह सुनिश्चित किया है कि वे तमाम राजनीतिक क़ैदी क़ैदखानों में सड़ते रहें, जिन्होंने मौजूदा सत्ता के ख़िलाफ़ अपनी आवाज़ उठायी है।

आरएसएस ने पिछले सौ वर्षों में तमाम संस्थानों में अपनी पैठ जमायी है जिसमें न्यायपालिका प्रमुख है। इसने न्यायाधीशों से लेकर तमाम पदों पर अपने लोगों की भर्ती की है जिसके नतीजे के तौर पर आज हमें न्यायपालिका का साम्प्रदायिक चेहरा नज़र आ रहा है। आज संघ ने न्यायपालिका को भी संघ के प्रचार और फ़ासीवादी एजेण्डे को लागू करने का एक औजार बना दिया है। फ़ासीवाद की यह एक चारित्रिक अभिलाक्षणिकता होती है कि वह तमाम सरकारी व गैर सरकारी संस्थानों में अपनी पैठ जमाता है और इनके तहत अपने फ़ासीवादी एजेण्डे को पूरा करता है। आज फ़ासीवाद के दौर में भारतीय शासक वर्ग ने कश्मीर के ऊपर पहले से अधिक संगठित और योजनाबद्ध तरीके से हमले शुरू कर दिये हैं। इसके ख़िलाफ़ न सिर्फ़ मज़दूर वर्ग को संगठित रूप से अपनी आवाज़ उठानी चाहिए, बल्कि कश्मीरी जनता के आत्मनिर्णय के अधिकार का बिना शर्त समर्थन करना चाहिए। साथ ही न्यायपालिका की हक़ीक़त को भी समझना चाहिए कि बुर्जुआ न्यायपालिका अन्ततोगत्वा शासक वर्ग के समर्थन में ही खड़ी होती है। और फ़ासीवाद के दौर में तो यह और भी खुले रूप में अपने चेहरे को उजागर कर देती है।

मज़दूरी

(पेज 13 से आगे)

भाती है क्योंकि यह उनके मुनाफ़े की दर को बढ़ाने में, मज़दूरों के साथ धोखाधड़ी कर उनकी मज़दूरी में कटौती करने में और मज़दूरों के बीच आपसी प्रतिस्पर्द्धा बढ़ाकर श्रम सघनता व कार्यदिवस को बिना कोई अहलकार रखे बढ़वाने में उनकी मदद करती है। मार्क्स लिखते हैं:

> "अब तक हमने जो प्रदर्शित किया है, उससे यह देखा जा सकता है कि पीस-रेट मज़दूरी पूँजीवादी उत्पादन पद्धति के लिए मज़दूरी का सबसे उपयुक्त रूप है। हालाँकि यह किसी भी रूप में नया नहीं है—चौदहवीं सदी के फ्रांसीसी व अंग्रेज़ी श्रम संहिताओं में कालिक-मज़दूरी के साथ-साथ इसकी आधिकारिक मौजूदगी को देखा जा सकता है--लेकिन इसने उपयुक्त रूप में मैन्युफैक्चर के दौर में ही व्यापक क्षेत्र को अपने मातहत लिया। बड़े पैमाने के उद्योग के तूफ़ानी युवाकाल में, और 1797 से 1815 तक, इसने कार्यदिवस को लम्बा करने और मज़दूरी को नीचे करने के एक लीवर के रूप में काम किया।" (*वही*, पृ. 699-700)

जो बात हमें याद रखनी चाहिए वह यह कि मज़दूरी के इन दोनों ही रूपों से मज़दूरी के सारतत्व पर कोई फ़र्क नहीं पड़ता जो कि श्रमशक्ति के मूल्य या क़ीमत की श्रम की क़ीमत के रूप में विचारधारात्मक अभिव्यक्ति मात्र है। पीस-रेट मज़दूरी वास्तव में कालिक-मज़दूरी का ही रूपान्तरित रूप है। इससे पूँजी और उजरती श्रम के आम सम्बन्ध पर कोई फ़र्क नहीं पड़ता।

मज़दूरी में राष्ट्रीय अन्तर

मज़दूरी के विषय में अपनी चर्चा के अन्त में मार्क्स अलग-अलग देशों में मज़दूरी के स्तर में अन्तर के मुद्दे पर आते हैं। मार्क्स बताते हैं कि अलग-अलग देशों में मज़दूरी के स्तर में अन्तर होना स्वाभाविक है और पूँजीवादी व्यवस्था की प्रकृति का अंग है, जिसका नियम ही असमान विकास होता है। मार्क्स बताते हैं कि मज़दूरी में राष्ट्रीय अन्तर मौजूद होते हैं क्योंकि अलग-अलग देशों में श्रम की उत्पादकता, सघनता, औसत कार्यदिवस की लम्बाई के अलग-अलग होने के कारण जीवन के लिए आवश्यक मज़दूरी-उत्पादों की अलग-अलग कीमतें, मज़दूरों के शिक्षण और प्रशिक्षण की अलग-अलग लागत के कारण श्रमशक्ति का मूल्य और इसलिए श्रम की क़ीमत अलग-अलग होती हैं। साथ ही, श्रम की सापेक्षिक क़ीमत, यानी उत्पादों के कुल मूल्य तथा साथ ही बेशी मूल्य के सापेक्ष श्रम की क़ीमत, में भी अन्तर होता है। इसका कारण अलग-अलग देशों में ऐतिहासिक विकास के अलग-अलग रास्ते होते हैं जिनके कारण पूँजीवादी उत्पादन व्यवस्था के विकास का अलग-अलग स्तर होता है। साथ ही, श्रमशक्ति के मूल्य में अलग-अलग देशों में सांस्कृतिक विकास के स्तर के कारण भी अन्तर होता है।

जिन देशों में पूँजीवादी उत्पादन पद्धति का ज़्यादा विकास हुआ होता है और वहाँ उत्पादक शक्तियों का विकास ज़्यादा उन्नत स्तर पर होता है, वहाँ शोषण की दर ज़्यादा हो सकती है, यानी अतिरिक्त श्रम और आवश्यक श्रम का अनुपात ज़्यादा हो सकता है या मूल्य के अर्थों में कहें तो बेशी मूल्य की दर ज़्यादा हो सकती है, लेकिन फिर भी मज़दूरों का जीवन-स्तर निरपेक्ष रूप में बेहतर हो सकता है। इसका कारण यह होता है क्योंकि मज़दूरों की नॉमिनल मज़दूरी कम भी हो तो मज़दूरी-उत्पादों के सापेक्षिक रूप से सस्ता होने के कारण सापेक्षिक रूप से कम उन्नत पूँजीवादी देशों के मज़दूरों की तुलना में उनकी वास्तविक मज़दूरी ज़्यादा होती है। लेकिन फिर भी उनके शोषण की दर ज़्यादा ही होती है क्योंकि पिछड़े पूँजीवादी देशों की तुलना में कुल उत्पादित नये मूल्य में मज़दूरी का हिस्सा सापेक्षिक तौर पर मुनाफ़े के हिस्से से कम होता है। इसलिए यह बात सुनने में अजीब लग सकती है, लेकिन अगर हम शोषण की शुद्ध रूप से आर्थिक अवधारणा के अनुसार बात करें, तो यह सम्भव है एक जर्मन मज़दूर के शोषण की दर एक इण्डोनेशियाई या भारतीय मज़दूर के शोषण की दर से ज़्यादा हो और फिर भी एक जर्मन मज़दूर का जीवन स्तर एक इण्डोनेशियाई या भारतीय मज़दूर की तुलना में कहीं ऊपर हो। मार्क्स लिखते हैं:

> "किसी देश में पूँजीवादी उत्पादन का विकास जिस स्तर तक होता है उसी के अनुपात में श्रम की राष्ट्रीय सघनता और उत्पादकता भी अन्तरराष्ट्रीय स्तर के ऊपर बढ़ती है। अलग-अलग देशों में समान कार्यकाल में उत्पादित समान मालों की अलग-अलग मात्राएँ, इसीलिए, असमान अन्तराष्ट्रीय मूल्य की होती हैं, जो कि अलग-अलग कीमतों में, यानी अन्तरराष्ट्रीय मूल्यों के अनुसार मुद्रा की अलग-अलग मात्राओं में अभिव्यक्त होती हैं...
>
> "...ऐसा अक्सर पाया जायेगा कि पहले राष्ट्र (*ज़्यादा उन्नत पूँजीवादी देश – ले.*) में दैनिक या साप्ताहिक मज़दूरी दूसरे राष्ट्र (*कम उन्नत पूँजीवादी देश – ले.*) के मुकाबले ज़्यादा है, जबकि श्रम की सापेक्षिक क़ीमत, यानी, बेशी मूल्य और उत्पाद के मूल्य, दोनों की तुलना में श्रम की क़ीमत, दूसरे में पहले के मुकाबले ज़्यादा है।" (*वही*, पृ. 702)

आगे मार्क्स बताते हैं कि इंग्लैण्ड में, जो बाकी महाद्वीपीय यूरोप के सभी देशों से ज़्यादा उन्नत पूँजीवादी देश था, पूँजीपतियों के लिए मज़दूरी यूरोप के अन्य देशों के मुकाबले कम थी, लेकिन अंग्रेज़ मज़दूरों के लिए यह यूरोप के अन्य देशों के मज़दूरों से ज़्यादा थी। इसका क्या अर्थ है? इसका यह अर्थ है कि इंग्लैण्ड में अधिक उत्पादकता व श्रम सघनता के कारण बेशी मूल्य की दर ज़्यादा थी, लेकिन साथ ही ठीक उन्हीं कारणों से मज़दूरी-उत्पादों के सस्ते होने के कारण श्रमशक्ति का मूल्य कम था और इसलिए नॉमिनल मज़दूरी कम होने के बावजूद वास्तविक मज़दूरी, यानी उपभोक्ता सामग्रियों का वह टोकरा जो मज़दूर अपनी नॉमिनल मज़दूरी से ख़रीद सकता है, ज़्यादा थी।

यहाँ पर मार्क्स मज़दूरी-रूप पर अपनी चर्चा को विराम देते हैं। लेकिन 'पूँजी' के पहले खण्ड के शेष हिस्से में और साथ ही खण्ड-3 में मज़दूरी के उतार-चढ़ाव के पीछे काम करने वाले कारकों पर उनकी चर्चा बार-बार आती है। पूँजी संचय की गति और मज़दूरी की दर में आने वाले परिवर्तनों को समझना इसके लिए केन्द्रीय महत्व रखता है। आगे के अध्यायों में हम सन्दर्भ के अनुसार इस पर चर्चा करेंगे। लेकिन उसके लिए मज़दूरी-रूप के बुनियादी तत्वों को समझना आवश्यक था, जो कि मौजूदा अध्याय में हमारी चर्चा का मूल बिन्दु था।

(अगले अंक में जारी)

भगतसिंह जन अधिकार यात्रा के हमसफ़र बनो!

(पेज 16 से आगे)

भ्रष्टाचार सारी हदों को पार क्यों करता जा रहा है?

जब सरकारें धन्नासेठों को लूट की छूट देती हैं, तो उनके नेता-मन्त्री खुद भी क्यों पीछे रहें? वे भी बहती गंगा में हाथ धोते हैं। और मोदी सरकार के कार्यकाल में तो 'राम नाम पर लूट मची है, लूट सके तो लूट' का नारा चल पड़ा है। 'चाल-चेहरा-चरित्र' की बात करने वाली भाजपा सरकार ने भ्रष्टाचार का ऐसा नंगा नाच किया कि पुराने पेशेवर भ्रष्टाचारी भी बगलें झाँकने लगें। 10,000 करोड़ रुपये का व्यापम घोटाला, हज़ारों करोड़ का राफेल घोटाला, अडानी घोटाला, नोटबन्दी घोटाला, डीमैट घोटाला, डीडीसीए घोटाला, एनपीए घोटाला...फ़ेहरिस्त इतनी लम्बी है कि एक किताब भरी जा सकती है। इन घोटालों में जो अरबों-खरबों रुपयों के वारे-न्यारे हुए, वे भी जनता के ही थे। एक तरफ़ तमाम धन्नासेठ और पूँजीपतियों ने अपनी तिजोरियाँ भरीं, तो वहीं सरकार के मन्त्रियों, नेताओं, विधायकों व सांसदों ने तथा बड़े-बड़े अफ़सरान, बिचौलियों व दलालों ने भी कमीशन से जेबें गरम कीं। लेकिन इन सभी घोटालों पर मचे शोर को मोदी सरकार ने न्यायपालिका, मीडिया से लेकर नौकरशाही तक को अपनी जेब में रखकर दबा दिया। गोदी मीडिया ने इसमें ख़ास भूमिका निभायी। गोदी मीडिया के विषय में तो जनता को एक नियम बना लेना चाहिए कि जो भी गोदी मीडिया बोले, उसके उलट को सच मानिये! सिर्फ एनपीए (नॉन परफॉर्मिंग एसेट) घोटाले के ज़रिये जनता की खून-पसीने की कमाई के 2.67 लाख करोड़ रुपये लेकर सरकार के यार तमाम घपलेबाज़ धन्नासेठ भाग चुके हैं। क्या सरकार से मिलीभगत के बिना यह मुमकिन है? असम्भव।

साम्प्रदायिकता, जातिवाद व अन्धराष्ट्रवाद की अफ़ीम क्यों दी जा रही है?

हम ऊपर बताये अपने असली मसलों पर न सोच पायें इसके लिए हमें संघ परिवार, भाजपा व उनकी गोद में बैठा गोदी मीडिया तीन फ़र्ज़ी मसलों में उलझाता है: साम्प्रदायिकता, जातिवाद और अन्धराष्ट्रवाद। कभी मन्दिर, मस्जिद, 'लव जिहाद' तो कभी 'लैण्ड जिहाद', गोरक्षा की झूठी नौटंकी फैलाकर हमारी धार्मिक भावनाओं का इस्तेमाल अपनी सियासी रोटियाँ सेंकने में किया जाता है, कभी आरक्षण की राजनीति की सिगड़ी गर्माकर मूर्ख बनाया जाता है, तो कभी चीन या पाकिस्तान का फ़र्ज़ी डर दिखाकर अन्धराष्ट्रवाद की लहर फैलाने की कोशिश की जाती है। तीनों के ज़रिये लोगों को बेवकूफ़ बनाया जाता है। अगर चीन से भारत को ख़तरा है, तो मोदी सरकार के पिछले 5 वर्षों में चीन से भारत में होने वाला आयात 30 प्रतिशत क्यों बढ़ा है? चीन के साथ भारत का व्यापार घाटा 1 ट्रिलियन डॉलर से ऊपर कैसे चला गया है? उसी प्रकार यदि गोरक्षा को लेकर भाजपा इतनी बेचैन है, तो केरल, उत्तर-पूर्व, गोवा में भाजपा नेता गोमांस की आपूर्ति को बढ़ाने के वायदे क्यों कर रहे हैं? भाजपा के संगीत सोम एक बूचड़खाने के निदेशक मण्डल में क्यों थे, जो कि गोमांस का निर्यात करता है? मोदी सरकार के मातहत भारत दुनिया का चौथा सबसे बड़ा गोमांस निर्यातक देश कैसे बन गया? अगर 'लव जिहाद' के बारे में भाजपा गम्भीर है तो भाजपा नेताओं शाहनवाज़ हुसैन, मुख्तार अब्बास नकवी, उससे पहले सिकन्दर बख़्त के घरों पर संघी गुण्डों ने हमला क्यों नहीं किया जिन्होंने हिन्दू स्त्रियों से विवाह किया है? भाजपा नेता सुब्रमण्यम स्वामी की बेटी के घर क्यों हमला नहीं किया जिसने एक मुसलमान व्यक्ति से शादी की है? कभी इन सवालों पर आपने सोचा है?

समझने वाली बात...

साफ़ है: ये मसले सिर्फ इसलिए मौजूदा सरकार व संघ परिवार द्वारा उछाले जाते हैं कि हमारे अन्दर अतार्किक साम्प्रदायिक सोच और भावना पैदाकर उसका अपने राजनीतिक फ़ायदे के लिए इस्तेमाल किया जाये और हमारा ध्यान बढ़ती महँगाई, बेरोज़गारी, ग़रीबी, अशिक्षा, भुखमरी से भटकाया जाये। हममें से कई भोले लोग इस फ़र्जीवाड़े में फँस भी जाते हैं। लेकिन आगे आपसे कोई इन नकली मुद्दों का नाम भी ले, तो उसका सेवा-सत्कार कर उसे दरवाज़ा दिखाएँ। अगर हम बेहतर भविष्य चाहते हैं तो हमें कसम खा लेनी चाहिए कि हम केवल अपने जीवन के ठोस असली मुद्दों पर बात करेंगे। हमें तय कर लेना चाहिए कि हम अपने रोज़गार, शिक्षा, चिकित्सा, आवास के अधिकार, महँगाई और भ्रष्टाचार से मुक्ति के अधिकार, साम्प्रदायिकता व जातिवाद से मुक्ति के अधिकार पर ही बात करेंगे। हमें संकल्पबद्ध हो जाना चाहिए कि इन सभी मसलों पर हम आम मेहनतकश लोग अपने जुझारू आन्दोलन खड़े करेंगे जिनकी कुछ प्रमुख माँगें निम्न होंगी :

हमारी प्रमुख माँगें

- शिक्षा-रोज़गार-स्वास्थ्य- आवास मौलिक अधिकार घोषित हों। निजीकरण पर रोक लगे। भगतसिंह राष्ट्रीय रोज़गार गारण्टी क़ानून पारित करो, रोज़गार न दे पाने की सूरत में 10,000 रुपये प्रतिमाह बेरोज़गारी भत्ता दिया जाये। केन्द्र व राज्य सरकारों के सभी ख़ाली पद शीघ्र भरो। 'अग्निवीर' योजना को तत्काल रद्द कर सेना में पक्की भरती की व्यवस्था बहाल की जाये।
- सभी श्रम क़ानूनों को सख़्ती से लागू करो, प्रस्तावित चार 'लेबर कोड्स' रद्द करो। ग्रामीण मज़दूरों को भी श्रम क़ानूनों के अन्तर्गत लाया जाये। 'पुरानी पेंशन स्कीम' बहाल करो। ठेकेदारी प्रथा ख़त्म कर नियमित प्रकृति के कामों पर पक्के रोज़गार का प्रबन्ध करो।
- महँगाई पर रोक लगाने के लिए सभी अप्रत्यक्ष करों को समाप्त किया जाये और बढ़ती सम्पत्ति के आधार पर प्रगतिशील प्रत्यक्ष करों की व्यवस्था को मज़बूती के साथ लागू किया जाये।
- मनरेगा योजना को सख़्ती से लागू किया जाये, इसके तहत पूरे साल का काम देने का प्रावधान किया जाये और इसके काम पर कम-से-कम न्यूनतम वेतन जितनी राशि प्रदान की जाये।
- ग़रीब और मँझोले किसानों के लिए बीज, खाद, बिजली, आदि पर सब्सिडी की समुचित व्यवस्था हेतु अमीर वर्गों पर विशेष कर लगाये जायें, सिंचाई की सरकारी व्यवस्था और संस्थागत ऋण का भी समुचित प्रबन्ध किया जाना चाहिए।
- "सर्वधर्म समभाव" की नकली धर्मनिरपेक्षता की जगह सच्चे धर्मनिरपेक्ष राज्य को सुनिश्चित करने के लिए क़ानून लाया जाये। किसी भी नेता या पार्टी द्वारा धर्म, समुदाय या आस्था का सार्वजनिक जीवन में किसी भी रूप में उल्लेख व इस्तेमाल करना दण्डनीय अपराध घोषित किया जाये।
- छुआछूत ही नहीं बल्कि हर प्रकार से जातिगत भेदभाव को संवैधानिक संशोधन करके दण्डनीय अपराध घोषित किया जाये।
- चुनावी दलों व सरकार द्वारा किये जाने वाले भ्रष्टाचार पर रोक लगे और इनके पब्लिक ऑडिट व जाँच की व्यवस्था की जाये।
- स्त्रियों के साथ सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक भेदभाव के हर रूप को समाप्त करो, इसके लिए सख़्त क़ानून लाये जायें।
- धार्मिक व जातिगत वैमनस्य भड़काने वाले तथा साम्प्रदायिक हिंसा व मॉब लिंचिंग में सक्रिय हर प्रकार के संगठनों और दलों पर तत्काल प्रतिबन्ध लगाकर इन्हें आतंकवादी घोषित किया जाये और इनके नेताओं व गुर्गों पर तत्काल कठोर कार्रवाई की जाये।

दोस्तो! उपरोक्त सभी माँगें हमारे जीवन से जुड़ी बुनियादी माँगें हैं। ये व्यावहारिक माँगें हैं। इन्हें पूरा किया जा सकता है। दुनिया के कुछ देशों में इनमें से कई अधिकार जनता को हासिल भी हैं, क्योंकि जनता ने उनके लिए वहाँ संघर्ष किया। यह समाज के क्रान्तिकारी रूपान्तरण की लम्बी लड़ाई का एक आरम्भिक क़दम है। इन माँगों के लिए कोई भी चुनावबाज़ पार्टी नहीं लड़ने वाली। वजह यह कि कांग्रेस, आप, सपा, बसपा, शिवसेना, रांकपा, राजद, जदयू, जद(सेकु), माकपा, भाकपा, भाकपा (माले) लिब., बीआरएस, वाईएसआर कांग्रेस, अकाली दल, आदि सभी चुनावबाज़ पार्टियाँ धन्नासेठों, पूँजीपतियों के ही चन्दों पर चलती हैं और अलग-अलग तरह से उन्हीं के लिए नीतियाँ बनाती हैं। इस समय देश के हुक्मरानों को फ़ासीवादी भाजपा की ज़्यादा ज़रूरत है, जो खुलकर तानाशाह तरीक़े से हम पर जनविरोधी नीतियों को थोप सके और हमें धर्म के नाम पर आपस में लड़ा सके।

●

इसलिए आज देश की मेहनतकश जनता को इन माँगों पर अपने जुझारू जनान्दोलन खड़े करने होंगे, मौजूदा जनविरोधी सरकार को सबक सिखाना होगा और अपने जुझारू आन्दोलन के बूते यह सुनिश्चित करना होगा कि 2024 में आने वाली कोई भी सरकार हमारी इन माँगों को नज़रन्दाज़ न कर सके। शहीदे-आज़म भगतसिंह ने कहा था कि जो सरकार जनता को उसके बुनियादी अधिकारों से वंचित रखे, उसे उखाड़ फेंकना उसका अधिकार ही नहीं उसका कर्तव्य है। आज शहीदे-आज़म के इस सन्देश पर अमल करने का वक़्त है। आइये, हमारी इस मुहिम में, हमारे इस आन्दोलन में शामिल हों और एक बेहतर भविष्य के लिए संघर्ष का हिस्सा बनें।

– भारत की क्रान्तिकारी मज़दूर पार्टी (RWPI)
– नौजवान भारत सभा
– दिशा छात्र संगठन
– बिगुल मज़दूर दस्ता

सम्पर्क

दिल्ली: 9289498250, 9693469694; उत्तर प्रदेश: 8858288593, 9891951393; हरियाणा: 8685030984; महाराष्ट्र: 7798364729, 9619039793; बिहार: 8860792320; उत्तराखण्ड: 9971158783; पंजाब: 9888080820; आन्ध्र प्रदेश: 7995828171, 8500208259; तेलंगाना: 9971196111; चण्डीगढ़: 8196803093

फ़ेसबुक, इंस्टाग्राम, ट्विटर : bsjayatra
व्हाट्सऐप: 095827 12837

यात्रा से जुड़ने और सहयोग करने के लिए इस QR कोड को स्कैन करें

डाक पंजीयन : SSP/LW/NP-319/2023-2026
प्रेषण डाकघर : आर.एम.एस, चारबाग़, लखनऊ
प्रेषण तिथि : दिनांक 5, प्रत्येक माह

पर्चा

भगतसिंह जन अधिकार यात्रा
के हमसफ़र बनो!

BHAGAT SINGH JAN ADHIKAR YATRA
BSJAY

दूसरा चरण : 10 दिसम्बर, 2023, बेंगलुरु से 3 मार्च, 2024, नयी दिल्ली - 13 राज्य, 85 ज़िले, 8500 किलोमीटर

भगतसिंह की बात सुनो, नयी क्रान्ति की राह चुनो!
शिक्षा और रोज़गार, हमारा जन्मसिद्ध अधिकार!!

हिन्दू-मुस्लिम-सिख-ईसाई, सबको मार रही महँगाई!
जाति-धर्म के झगड़े छोड़ो, सही लड़ाई से नाता जोड़ो!!

साथियो!

हम 'भगतसिंह जनअधिकार यात्रा' के दूसरे चरण में आपके बीच आये हैं। इस यात्रा का लक्ष्य है आम जनता के मूलभूत अधिकारों के लिए संघर्ष को आगे बढ़ाना और इसके लिए जनता को जागृत, गोलबन्द और संगठित करना। देश में आम मेहनतकश लोगों के जीवन की स्थितियाँ किसी से छिपी नहीं हैं। यह यात्रा 10 दिसम्बर 2023 को कर्नाटक में बेंगलुरु से शुरू होकर देश के 13 राज्यों, 80 से ज़्यादा ज़िलों से होते हुए 8500 किलोमीटर लम्बी दूरी तय करके 3 मार्च 2024 को दिल्ली पहुँचेगी। आप सभी इसका हिस्सा बनें।

महँगाई, बेरोज़गारी और भ्रष्टाचार ने जनता के जीवन को नर्क के समान बना रखा है। लोग अपने बच्चों को पोषणयुक्त भोजन, स्तरीय चिकित्सा, गुणवत्ता वाली शिक्षा तक मुहैया नहीं करा पा रहे हैं। हम इन असली मुद्दों पर न सोच पायें, इसके लिए देश के हुक्मरान हमें धर्म और जाति के नाम पर लड़ाने के वास्ते मन्दिर-मस्जिद, आरक्षण के नये-नये जुमलों और अन्धराष्ट्रवादी उन्माद में उलझाते रहते हैं।

सभी लुटेरे हुक्मरानों के समान हमारे देश के हुक्मरान भी हमें इस बात पर यक़ीन दिलाना चाहते हैं कि हमारी ग़रीबी, बदहाली, बेरोज़गारी, बेघरी, सामाजिक-आर्थिक असुरक्षा के लिए हम ही ज़िम्मेदार हैं! हम ही नाकारे हैं क्योंकि हर दिन 18 घण्टे काम करने को तैयार नहीं हैं?! क्योंकि हम इतने बच्चे पैदा करते हैं! हमारे देश के हुक्मरान हमें बताते हैं कि अन्तरराष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में आयी मन्दी के कारण भारत में बेरोज़गारी और महँगाई बढ़ रही है! हमें यक़ीन दिलाया जाता है कि बेरोज़गारी, महँगाई आदि में सरकार की कोई ग़लती नहीं है, मानो ये चीज़ें भूकम्प या सुनामी के समान कोई प्राकृतिक आपदा हों, जिन पर किसी का नियन्त्रण नहीं! लेकिन शासक वर्ग द्वारा पढ़ाई जा रही इस पट्टी में क्या कोई सच्चाई है? बिल्कुल नहीं! ये पट्टी तो हमें इसलिए पढ़ाई जा रही है कि बढ़ती बेरोज़गारी, महँगाई और सामाजिक व आर्थिक असुरक्षा को हम क़िस्मत का लेखा या नियति मान बैठें। सारे लुटेरे हुक्मरान हमेशा यही चाहते हैं।

सच्चाई यह है कि ख़ास तौर पर पिछले 10 वर्षों में भारत की मेहनतकश जनता के जीवन-स्तर और उनकी कार्यस्थितियों में अभूतपूर्व गिरावट आयी है और इसका कारण मौजूदा सरकार की जनविरोधी नीतियाँ हैं। पहले भी तमाम सरकारें देश के मालिकों, ठेकेदारों, भूस्वामियों, दलालों और बिचौलियों के हितों की ही सेवा करती थीं। लेकिन 2014 से मौजूद मोदी सरकार ने धनपशुओं की खुल्लेआम सेवा करने और आम जनता को लूटने के सारे कीर्तिमान ध्वस्त कर दिये हैं। इस सच्चाई को समझना आज बेहद ज़रूरी है।

महँगाई क्यों सारे रिकार्ड तोड़ रही है?

महँगाई क्यों बढ़ रही है? महँगाई बढ़ने का जो ढाँचागत कारण है, जिसके कारण समय-समय पर अलग-अलग वस्तुओं व सेवाओं की क़ीमतें बढ़ती है, वह तो एक ऐसी व्यवस्था है जिसमें समूचा उत्पादन, विनिमय व वितरण जनता की ज़रूरतों को पूरा करने के लिए योजनाबद्ध तरीक़े से नहीं होता, बल्कि मुट्ठी भर धन्नासेठों की तिजोरियाँ भरने के लिए और अराजक तरीक़े से होता है। ऐसी अराजक व्यवस्था में अलग-अलग समय पर अलग-अलग मालों की क़ीमतें बढ़ती-घटती हैं। लेकिन आज हमारे देश में महँगाई द्वारा सारे रिकार्ड तोड़े जाने के पीछे एक तात्कालिक ठोस कारण है: मोदी सरकार द्वारा एक ओर अमीरज़ादों के हितों की सेवा के लिए उन्हें करों से आज़ादी देना, तमाम रियायतें व छूटें देना और दूसरी ओर आम जनता पर करों के बोझ को बढ़ाते जाना। पिछले 10 सालों में मोदी सरकार ने बड़े-बड़े मालिकों, कम्पनियों, आदि पर टैक्सों को घटाया है, उन्हें ज़मीन, बिजली, पानी, ऋण तक में भारी छूटें दी हैं और आम जनता पर अप्रत्यक्ष करों का बोझ भयंकर तरह से बढ़ाया है।

2017 से पहले करों से होने वाले कुल सरकारी कर राजस्व का 32 प्रतिशत धन्नासेठों से लिये जाने वाले कारपोरेट टैक्स से आता था। 2023 आते-आते यह 24 प्रतिशत से भी कम हो गया है, जबकि इन धन्नासेठों के मुनाफ़े में इसी बीच भारी इज़ाफ़ा हुआ है। वहीं दूसरी ओर जीएसटी व अन्य शुल्कों द्वारा आम जनता पर करों का बोझ बढ़ा दिया गया है। यह कुल कर राजस्व के आधे से भी ज़्यादा है! पेट्रोलियम उत्पादों की क़ीमतों का लगभग 60 प्रतिशत केवल टैक्स हैं। 2021-22 में केन्द्र सरकार ने 3.73 लाख करोड़ रुपये और समस्त राज्य सरकारों ने मिलकर 2.02 लाख करोड़ रुपये पेट्रोल व डीज़ल पर करों में वसूले। जब पेट्रोल व डीज़ल की क़ीमतों में इतनी भारी बढ़ोत्तरी होती है, तो उसका असर हर माल की क़ीमत पर पड़ता है। उसी प्रकार रसोई गैस की क़ीमतों को भी केन्द्र सरकार ने पिछले 10 वर्षों में दोगुने से भी ज़्यादा बढ़ा दिया, जिसका असर आम आदमी की अर्थव्यवस्था पर सीधे और भयंकर तौर पर पड़ा है।

मोदी सरकार जनता पर टैक्सों का बोझ इसलिए बढ़ा रही है क्योंकि उसे बड़े-बड़े धन्नासेठों को टैक्स में दी गयी भारी छूट की भरपाई करनी है। सरकारी आमदनी पूँजीपतियों को दी जाने वाली छूट से घटती गयी है। नेताओं-मन्त्रियों, सांसदों, विधायकों व बड़े-बड़े नौकरशाहों को मिलने वाली सुविधाओं में कोई कमी न आये, इसके लिए आम जनता पर टैक्सों का बोझ लगातार बढ़ाया गया है। यह हमारे देश में पिछले 10 साल में अभूतपूर्व रूप से बढ़ी महँगाई का असली ठोस कारण है। यह कोई प्राकृतिक आपदा नहीं है। इसके लिए मौजूदा सरकार की नीतियाँ ज़िम्मेदार हैं, जिनका मकसद है: पूँजीपतियों को पूजो और आबाद करो, जनता को लूटो और बरबाद करो।

बेरोज़गारी इस कदर क्यों बढ़ रही है?

हमें हमेशा बताया जाता है कि बेरोज़गारी का कारण बढ़ती जनसंख्या है। यह बकवास है। कोई व्यक्ति सिर्फ पेट लेकर नहीं पैदा होता है, वह हाथ-पाँव लेकर पैदा होता है। उसका श्रम प्रकृति के साथ मिलकर समृद्धि पैदा कर सकता है। सीधी सी बात है: ज़्यादा लोग, यानी ज़्यादा ज़रूरतें, ज़्यादा ज़रूरतें मतलब अधिक उत्पादन की ज़रूरत, अधिक उत्पादन की ज़रूरत यानी अधिक रोज़गार। हमारे देश में पिछले 10 वर्षों में खाद्य उत्पादन में 18.30 प्रतिशत की बढ़ोत्तरी हुई। इसी बीच जनसंख्या में 10.7 प्रतिशत की बढ़ोत्तरी हुई। तो फिर देश में भुखमरी और कुपोषण क्यों बढ़ा है? अगर जनसंख्या ही इन दिक्कतों का कारण होती तो निश्चय ही भुखमरी व कुपोषण कम होने चाहिए थे। साफ़ है: आबादी का मसला केवल बहाना है, वास्तव में आम जनता निशाना है। निश्चय ही, एक शिक्षित समाज में लोग ज़्यादा बच्चे नहीं पैदा करते और यह निर्णय लेना स्त्रियों का जनवादी अधिकार होता है। लेकिन समाज में मौजूद अशिक्षा व संस्कृति के अभाव के लिए भी मौजूदा व्यवस्था ही ज़िम्मेदार है। लेकिन इतना तय है कि भुखमरी, बेरोज़गारी व ग़रीबी के लिए अपने आप में आबादी उत्तरदायी नहीं है। इसे तथ्यों व आँकड़ों से दिखलाया जा सकता है।

बेरोज़गारी बढ़ने का पहला बुनियादी ढाँचागत कारण है मुनाफ़ाखोर व्यवस्था। जहाँ उत्पादन का मकसद आम जनता की बेहतरी, उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति, कामगारों के लिए मानवीय काम करने की स्थितियाँ सुनिश्चित करना न हो, वहाँ बेरोज़गारी तो बढ़ेगी ही!

पिछले 10 वर्षों में बेरोज़गारी द्वारा सारे रिकार्ड तोड़े जाने का कारण है मोदी सरकार द्वारा अर्थव्यवस्था का भयंकर कुप्रबन्धन ताकि अम्बानी व अडानी जैसों की मुनाफ़ाखोरी में कोई कमी न आने पाये। इन्हीं 10 वर्षों में निजीकरण की जो आँधी चली है, उसके कारण ज़बर्दस्त छँटनी हुई है। केवल सरकारी आँकड़ों की बात करें, तो 2016 में 41.2 करोड़ लोगों के पास नौकरी थी, जबकि 2021 में 40.4 करोड़ लोगों के पास ही नौकरी थी। वह भी तब जब नौकरी होने की सरकारी परिभाषा यह है कि अगर पिछले हफ़्ते आपने किसी दिन काम किया है, तो आपको नौकरीशुदा माना जायेगा! ऊपर से मोदी सरकार ने तो नौकरी के आँकड़े जुटाना ही बन्द कर दिया है, ताकि सच्चाई लोगों के सामने न आ सके। असलियत यह है कि अक्टूबर 2023 में ही बेरोज़गारी दर ने फिर से नया रिकार्ड बनाया और 10.1 प्रतिशत से ऊपर चली गयी (स्रोत: सेण्टर फॉर मॉनीटरिंग इण्डियन इकॉनमी)। 2021 तक ही नौजवानों में रोज़गार दर 10.4 प्रतिशत थी, यानी लगभग हर 100 नौजवानों में से 90 बेरोज़गार हैं। मोदी सरकार के 10 साल के राज में ही हर मिनट 3, हर घण्टे 182, और हर दिन 4400 नौकरियाँ घटी हैं। पहले नोटबन्दी और फिर कोविड के दौरान कुप्रबन्धित ढंग से थोपे गये लॉकडाउन ने ख़ास तौर पर जनता की रोज़ी-रोटी को तबाह कर डाला। और उसके बाद भी मोदी सरकार ने बेरोज़गारी से निपटने के लिए कोई क़दम उठाने की जगह रेलवे, हवाई अड्डों, बैंकों, बीमा संस्थानों व अन्य सरकारी उपक्रमों के निजीकरण की आंधी को जारी रखा है, श्रम कानूनों को लागू करने वाली श्रम विभाग की मशीनरी को पंगु कर दिया है और श्रम कानूनों तक को समाप्त करने की तैयारी में है।

बेरोज़गारी के लिए हमारे देश में पहले से जारी और मोदी सरकार द्वारा विशेष तौर पर फैलायी गयी ठेका प्रथा भी जिम्मेदार है। एक ठेका, दिहाड़ी या कैजुअल मज़दूर आम तौर पर 10 से 12 घण्टे काम करता ही है, और कहीं-कहीं 14 से 16 घण्टे भी काम करता है। भारत के कुल कामगारों में से 94 प्रतिशत अनौपचारिक क्षेत्र में हैं और अस्थायी ठेका या कैजुअल मज़दूरों के समान ही काम करते हैं। यदि 60 करोड़ से ज़्यादा काम कर रहे लोगों का 94 प्रतिशत 12-12 घण्टे काम कर रहा है, तो केवल उनके लिए श्रम कानूनों को लागू करने का मतलब होगा, करीब 20 से 25 करोड़ नये रोज़गार। लेकिन मोदी सरकार और नारायणमूर्ति जैसे उसके पूँजीपति यार जनता को बता रहे हैं कि रोज़ 12 घण्टे काम करो क्योंकि वे भी करते हैं। हम कहेंगे: आपका कारख़ाना है, आप करो 12 घण्टे काम! जब कारख़ाने खेत, खदान हमारे होंगे तो ज़रूरत होने पर हम भी अपनी मर्जी से कभी 12 घण्टे काम कर लेंगे! अभी हमें 8 घण्टे का कार्यदिवस दो, जो मज़दूर के तौर पर हमारा हक़ है।

बेरोज़गारी के लिए भी मोदी सरकार की निजीकरण, उदारीकरण, ठेकाकरण, कैजुअलीकरण की नीतियाँ और पूँजीपतियों के फ़ायदे के वास्ते किया गया अर्थव्यवस्था का कुप्रबन्धन ज़िम्मेदार है। यह भी कोई भूकम्प, बाढ़, जंगल की आग या सुनामी नहीं है।

(पेज 15 पर जारी)

यात्रा के सम्पर्क सूत्र और जुड़ने के लिए QR कोड अन्दर पेज 15 पर देखें

मुद्रक, प्रकाशक और स्वामी कात्यायनी सिन्हा द्वारा 263, हरिभजन नगर, शहीद भगतसिंह वार्ड, तकरोही, इन्दिरानगर, लखनऊ- 226016 से प्रकाशित और उन्हीं के द्वारा मल्टीमीडियम, 310, संजय गांधी पुरम, फ़ैज़ाबाद रोड, लखनऊ से मुद्रित। सम्पादक : अभिनव ● सम्पादकीय पता : 263, हरिभजन नगर, शहीद भगतसिंह वार्ड, तकरोही, इन्दिरानगर, लखनऊ- 226016